बांग्ला रंगमंच

भारत—देश और लोग

बांग्ला रंगमंच

किरणमय राहा

अनुवाद
गुलशेर खान शानी

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

आभार

मैं स्व० श्री सत्यजीत रे का बहुत अधिक आभारी हूं जिन्होंने अन्य कार्यों में व्यस्तता के बावजूद समय निकालकर इस पुस्तक का आवरण पृष्ठ आकल्पित करने की कृपा की।

मैं श्री स्वप्न मजूमदार और श्री शांतिदास का भी शुक्रगुजार हूं जिन्होंने कलकत्ता के पुराने और वर्तमान रंगमंच स्थलों को नक्शे में दर्शाने का कष्ट किया।

पुस्तकों और सामग्री को जुटाने में श्री निर्माल्य आचार्य के अमूल्य सहयोग के प्रति भी मैं अपना आभार प्रगट करता हूं।

अन्त में, मैं श्री एन० एस० जगन्नायन् का अत्यधिक आभारी हूं जिनके बहु-मूल्य सुझावों और सुधारों के फलस्वरूप पांडुलिपि का विकास संभव हुआ।

किरणमय राहा

1

जात्रा और अंग्रेजी रंगमंच

'रंगमंच' बंगाल में लगभग दो सौ वर्ष पूर्व इंग्लैंड से कलकत्ता के आरंभिक व्यापारियों तथा औपनिवेशिक शासकों के माध्यम से आया। दो बातें उसके आने में सहायक हुईं—रंगमंचीय मनोरंजन के एक देशी पारंपरिक रूप की विद्यमानता और देशी मध्यम वर्ग का उत्थान। इस वर्ग के आविर्भाव से, गत शताब्दी के मध्य दशकों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के माध्यम से अंग्रेजी नाट्य साहित्य में लोगों की रुचि जागी। परिणामस्वरूप, किसी विशिष्ट स्थान पर और किसी ऊंचे आयताकार मंच पर, जो तीन ओर से घिरा हुआ हो, नाटक प्रस्तुत करने की संकल्पना ने बंगाल में शीघ्र जड़ जमा ली। सन् 1872 तक कलकत्ता के बंगाली नागरिकों ने अपना स्वयं का नाटक-घर आरंभ कर दिया था। किसी मंच पर दर्शकों के सामने किसी बंगला नाटक को प्रस्तुत किया जाना और उसे देखने के लिए टिकट खरीद सकने की योग्यता के सिवाय और किसी शर्त का न होना, एक नई बात थी। किन्तु उनमें रंगमंचीय प्रस्तुतियों जैसी कोई बात नहीं थी। वस्तुत: सन् 1872 के पहले भी कुछ दशकों में ऐसे प्रदर्शन हुए थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि रंगमंच को बंगाल में एक अनुकूल वातावरण मिला। कुछ लोगों के अनुसार, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि आखिरकार रंगमंच मनोरंजन का कोई ऐसा रूप नहीं था जो भारत के लिए पराया रहा हो। नाट्य साहित्य अनेक प्रधान भारतीय भाषाओं (जिनमें बंगला भाषा भी सम्मिलित है) की जननी संस्कृत भाषा के साहित्य का एक अंग है। इस प्रकार प्राचीन भारत में नाटक न तो अज्ञात था और न लोग उसके रसास्वादन से अपरिचित थे। यद्यपि नाटकों के नियमित प्रदर्शनों के और उनकी लोकप्रियता के परिमाण के प्रामाणिक अभिलेख उपलब्ध नहीं हैं, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राचीन भारत में नाट्यशास्त्र परिपूर्णता की एक ऐसी अवस्था में पहुंच चुका था जो कि केवल उस सभ्यता के लिए ही संभव था जिसके निर्माण में एक सुदीर्घ कालावधि व्यतीत हुई हो। भरत मुनि द्वारा नाट्य-शास्त्र पर लिखा हुआ सुविस्तृत 'नाट्य शास्त्र' इस तथ्य का पर्याप्त प्रमाण है।

तथापि, संस्कृत नाटकों का सर्जनात्मक कार्य समाज के विशिष्ट वर्ग तक ही

सीमित था और ऐसे नाटकों की प्रस्तुति के लिए अपेक्षित प्रश्रय राजसभाओं तथा धनिक वर्ग तक ही सीमित था। बहरहाल ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के अंत तक शास्त्रीय संस्कृत नाट्य साहित्य का ह्रास हो चुका था। मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात तो वह उस अल्प प्रश्रय से भी वंचित हो गया जो उसे इससे पूर्व प्राप्त था। इसमें कोई संदेह नहीं कि आने वाली पीढ़ी के संस्कृत के अध्येतागण नाटकों का पठन-पाठन करते थे, किंतु इस तथ्य का कोई प्रमाण नहीं है कि उनका नियमित मंचन हुआ करता हो। केवल वानप्रस्थी दर्शकों के सम्मुख इनका प्रदर्शन हुआ करता था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में बंगला प्रबुद्ध वर्ग के बीच शास्त्रीय संस्कृत नाटकों के प्रति अभिरुचि का कुछ पुनरुत्थान अवश्य हुआ। यह पुनरुत्थान एक बढ़ती हुई राष्ट्रीय आत्म-चेतना की अभिव्यक्ति था और राष्ट्रीय गौरव के समर्थन के लिए सुचिंतित रूप से की जा रही खोज की प्रक्रिया का एक भाग था जो कि इंग्लेंड द्वारा हमारे देश की विजय के परिणामस्वरूप हुए प्रतिक्रियात्मक परिवर्तनों के प्रति अरुचि प्रकट करती थी। तथापि, बंगला रंगमंच के आरंभिक प्रश्रयदाताओं के संरक्षकत्व में प्रदर्शित संस्कृत नाटकों के अभिलेखों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अभिरुचि का पुनरुत्थान आवेशयुक्त मात्र था। संस्कृत नाटकों और नाट्यकला का बंगला रंगमंच पर अल्पतम प्रभाव ही पड़ा था।

तात्कालिक प्रभावों के दो स्रोत थे—कलकत्ता का अंग्रेजी रंगमंच और पारंपरिक लोक रंगमंच—जात्रा। बंगला साहित्य के इतिहासकारों में इस विषय में मतभेद है कि इनमें से किस स्रोत का प्रभाव प्रबल था। ब्रजेन्द्रनाथ बंद्योपाध्याय स्पष्टतः कहते हैं कि पुराने बंगला जात्रा नाटक तथा बंगला रंगमंच के बीच कोई संबंध ही नहीं था। यह एक ऐसा अतिवादी अभिमत है जिससे अनेक लेखकों के सहमत होने की संभावना नहीं है। दूसरी ओर, इस विषय के एक अन्य अधिकारी विद्वान अमूल्यचरण विद्याभूषण साग्रह यह कहते हैं कि केवल जात्रा नाटक ही बंगला रंगमंच के जनक हैं। यह अभिमत भी उतना ही अतिवादी और अस्वीकार्य है। समकालीन अभिलेखों के प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर, या तो अंग्रेजी प्रभाव को या देशी प्रभाव को अस्वीकार करना कठिन है। रंगमंच को प्रभावित करने और रंगमंच से प्रभावित होने की जात्रा नाटक की परस्पर क्रियाकारी भूमिका सदैव सक्रिय रही है, आज भी सक्रिय है। अतः जात्रा का प्रासंगिक उल्लेख मात्र पर्याप्त नहीं होगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संस्कृत नाटक—और रंगमंच—हिन्दू शासन की कतिपय कालावधियों में श्रेष्ठता की पराकाष्ठा पर पहुंच गए थे। भरत का 'नाट्यशास्त्र' तथा कालिदास और भास के नाटक इस तथ्य के पर्याप्त प्रमाण हैं कि उपलब्धि कितनी अधिक थी। राजसभाओं और धनिक वर्ग के प्रश्रय

ने भी उसकी वृद्धि में कम योगदान नहीं दिया। किंतु दैनिक जीवन की कार्य-साधक भाषा प्राकृत का निपुण और मुक्त प्रयोग यह दर्शाता है कि सर्वोत्तम संस्कृत नाटक द्वैभाषिक थे; राजागण और उच्चपदाधिकारीगण संस्कृत में बोलते थे और साधारण जन तथा स्त्रियों की भाषा प्राकृत थी। अतः नाटक मात्र राज-सभा में उपस्थित दर्शकों के बजाय कहीं अधिक लोगों को प्रभावित करते थे। तथापि ग्यारहवीं शताब्दी में हिमालय के दर्रों से होकर आए हुए महमूद गजनवी द्वारा भारत पर आक्रमण किए जाने और बारहवीं शताब्दी में मुहम्मद गौरी द्वारा इस्लाम की विजय की नींव डाली जाने के पूर्व भी यह आधार संकुचित हो गया था और ह्रास का आरंभ हो चुका था। जब आक्रमण हुआ और विजय ने संस्कृत नाटक के बुझते हुए स्फुलिंगों को बुझा दिया तब तक तो संस्कृत नाटक मृतवत् तथा ओजविहीन हो चुका था।

संगीत, नृत्य और रंगमंच के पारंपरिक लोक रूप ही क्षति के किसी चिह्न के बिना उनसे और एक परकीय संस्कृति के प्रभाव से बचे रह सके। वे जनसाधारण की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को संवेदनशीलतापूर्वक प्रकट करते हुए, समाहित करते हुए और प्रस्तुत करते हुए, जैसा कि उन्होंने सदैव किया है, एक अखंडित परंपरा में चलते रहे। पारंपरिक तथा लोक रंगमंच भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न परिपाटियों पर विकसित होते रहे और प्रस्तुतीकरण की रीति की दृष्टि से वे एक दूसरे से भिन्न हैं। किंतु, जैसाकि प्राचीन देशों के समस्त पारं-परिक कला-रूपों के संबंध में होता है, उनमें धार्मिक विश्वासों और अनुष्ठानों से संबद्ध होने की सर्वसामान्य विशेषता थी। देश की भूमि में मूलबद्ध पारंपरिक रंगमंच भारत के विभिन्न भागों में अनेक युगों से इतना सजीव और ओजस्वी रहा है कि वह लौकिक तथा सांस्कृतिक विजयों को ललकार सका। उन्हें दो महान महाकाव्यों—रामायण और महाभारत—और पुराणों से प्राप्य कथाओं तथा आख्यानों, इतिहास तथा दर्शन, धर्म तथा उपाख्यानों, संतों की जीवनियों तथा राक्षस-कथाओं के अक्षय भंडारागार से सामग्री उपलब्ध होती थी। चूंकि इन महाकाव्यों और पुराणों ने हिन्दू जीवन-प्रणाली को आकार दिया है और संबल प्रदान किया है, इसलिए विषयों और कथा-वस्तुओं के लिए उन पर निर्भर रहने वाले पारंपरिक रंगमंच को लोगों के समर्थन का अभाव कभी भी न रहा।

बंगाल के जात्रा नाटक का उद्गम धर्म के एक सहचारी अनुष्ठान के रूप में हुआ। भारत के अन्य भागों में विकसित लोक रंगमंच की भांति ही वह सुभिन्न परिपाटी पर विकसित हुआ और उसने अपने क्षेत्र के लोगों की स्थानीय प्रतिभा के अनुरूप अपनी सुभिन्न विशेषताओं का विकास किया। जात्रा के आरंभिक रूप के संबंध में—वस्तुतः, स्वयं इस शब्द के मूल के बारे में ही—अनुमान की काफी गुंजाइश है। शब्दशः उसका अर्थ है यात्रा या यात्रा का आरंभ। सामान्यतः

स्वीकृत मत यह है कि इस शब्द का मूल धार्मिक संगीतमय शोभायात्राओं में है। ये शोभायात्राएं उन धार्मिक उत्सवों का एक अंग थीं, जिनमें देवी-देवताओं को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाया जाता था। कुछ विद्वान जात्रा का मूल वेदों के कथोपकथनात्मक स्तोत्रों में ढूंढ़ते हैं। पी० गुह ठाकुरता ने बंगला नाटक संबंधी अपनी पुस्तक में यह कहा है कि जर्मन भारतविद् सी० पी० होविल्ज का यह मत है कि "वैदिक युग में भी जात्रा ज्ञात थी, जोकि आर्यों की पुरातनता की विरासत थी।" दूसरी ओर, प्रोफेसर ए० बी० कीथ अनुलोम परंपरा का कोई भी प्रमाण नहीं पाते हैं। उनका यह विचार है कि "लोकप्रिय पक्ष युगों-युगों से स्थूल रूप में जात्राओं में उत्तरजीवी रहा है जिन्हें कि बंगाल में भलीभांति जाना जाता है, जबकि परिष्कृत तथा पुरोहिती वैदिक नाटक बिना किसी अनुलोमवंशज के तिरोहित हो गया।" कुछ अन्य विद्वान इसका मूल पश्चिम बंगाल की वर्तमान सीमाओं के निकटवर्ती क्षेत्र में निवास करने वाली किसी जनजाति के गर्भाधान संस्कार में ढूंढ़ते हैं। उसका मूल चाहे जो हो, बंगाल में जात्रा का अर्थ हो गया था गीतों और नृत्यों का संस्कार, जो कि धार्मिक उत्सवों के अंग थे। 'गीत गोविंदम्' तथा 'श्रीकृष्ण कीर्तन' जैसी सुविख्यात कृतियों में, जो कि चौदहवीं शताब्दी के आरंभिक काल की हैं, गीतों तथा नृत्यों की रचना में नाटकीय तत्त्वों की उपस्थिति को देखा जा सकता है। 'श्रीकृष्ण कीर्तन' जैसा कि रचना के नाम से ही प्रकट हो जाता है, भगवान श्रीकृष्ण के सद्गुणों की प्रशंसा करते हुए और उनकी लीला का वर्णन करते हुए लिखे गए गीतों से परिपूर्ण है और उसमें प्रधान पात्र गीतों में संभाषण करते हैं, जिनमें हम नाटकीय संवाद के कुछ मूल तत्त्वों को पा सकते हैं। श्रीकृष्ण कीर्तन का व्यापक रूप से अनुकृत रूप बहुत बाद में नाटक जैसी किसी वस्तु के रूप में विकसित हुआ। किंतु एक आरंभिक आदर्श के रूप में वह जात्रा के प्रसार में सहायक हुआ, जिसे बंगाल में पंद्रहवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म के उत्थान के बाद के काल में व्यापक लोकप्रियता प्राप्त हुई। अधिकांश जात्रा रचनाएं कृष्ण और उनकी संगिनी राधा के जीवन संबंधी उपाख्यानों के चतुर्दिक् केंद्रीभूत थीं और वे भिन्न नामों से जानी जाती थीं, जैसे, श्रीकृष्ण जात्रा, रास जात्रा, झूलन जात्रा आदि। सोलहवीं शताब्दी के महान वैष्णव संत-सुधारक श्री चैतन्य ने जात्रा को भक्ति और प्रेम के अपने उपदेश के प्रसार के लिए एक अद्वितीय साधन पाया। बंगाल के लोकाचार और धार्मिक परंपरा के दूसरे वर्ग, नामतः, शक्ति उपासक संप्रदाय ने पौराणिक कथाओं और हिन्दू देवकुल के भयंकर शाक्त देवताओं और देवियों के संदेश के प्रचार-प्रसार के लिए जात्रा का ऐसा ही उपयोग किया।

अवसर चाहे जो भी रहे हों या उनका उपयोग करने वाली धार्मिक प्रथा के पंथ चाहे जो भी रहे हों, जात्रा नाटक लोगों के भावात्मक जीवन का अंग जैसे

बन गए थे। अपरिहार्यत: उसने अपनी स्वयं की परिपाटियों का एक समुच्चय और एक शैली अर्जित कर ली। उन्नीसवीं शताब्दी में उसके प्राकृतिक आधार—एक सामंतीय, ग्रामीण समाज—के अपक्षरित हो जाने के बावजूद ये परिपाटियां और यह शैली जीवित रही। कथा-वस्तुओं में परिवर्तित सामाजिक संदर्भ की आवश्यकताओं में उपयुक्त परिवर्तन हुआ किंतु परिपाटियां—सहगान (जुरी), पूर्वरंग तथा मंगलाचरण, अलंकारयुक्त भाषा, संगीतनाटकसदृश संगीत, उच्च स्वरयुक्त आवेगपूर्ण अभिनय, हास्यपूर्ण प्रहसन—बनी रहीं।

पारंपरिक समाज का पतन या उसके ढांचे में बदलाव ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा लाए गए परिवर्तनों के फलस्वरूप हुआ था, जिसने सन् 1757 में हुए प्लासी के युद्ध के बाद के वर्षों में वस्तुतः बंगाल का शासन प्राप्त कर लिया था। कलकत्ता पूर्व में एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र बन गया, जहां साहूकारों-व्यापारियों के एक नए वर्ग का उदय हुआ, जो कि एक ऐसे व्यापारिक धनिक वर्ग का केंद्रक बन गया जिसकी अभिरुचियों ने क्रमशः, यद्यपि सतही रूप में, नगरीय अभिमुखता अर्जित कर ली। परिवर्तन की प्रत्याशित अभिव्यंजना भारतचन्द्र राय (सन् 1712 1760) के काव्य में देखने को मिलती है। निस्संदेह, उसका सरोकार देवताओं की लीलाओं के वर्णन से ही रहा और वह भक्ति द्वारा मुक्ति का—जो कि उस वैष्णव साहित्य का, जिसपर जात्रा नाटक मुख्यतः अवलंबित थे, प्रकृत सार था—संदेश देता रहा। उनकी कविताओं की श्रृंगारिकता भी भावना की दृष्टि से वैष्णव काव्य रचनाओं की श्रृंगारिकता से बहुत भिन्न नहीं थी। किन्तु उसमें यह ऐहिकता और विषय की स्वाभाविकता थी जो कि पूर्वतर रचनाओं में नहीं पाई जाती। उनके सुप्रसिद्ध 'आनंद मंगल काव्य' का एक भाग विद्या और सुंदर की अनुश्रुत प्रेमकथा से संबद्ध है। इस श्रृंगारिकापूर्ण और पार्थिव कविता ने अनेक जात्रा नाटकों को जन्म दिया। विद्या सुंदर काव्य अपने नए रूपों में परिवर्तनशील लोकाचार का प्रतिबिंब था और वह अनेक जात्रा मंडलियों के भांडागार का एक प्रिय काव्य बन गया। दुर्भाग्यवश, उसने जात्रा नाटक को जो कि पहले ही निंदा का विषय बन चुका था, और भी अधिक बदनाम कर दिया।

कलकत्ता के अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भद्र लोगों का, जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक और मध्यदशकों तक बंगला विचारधारा और अभिमत के सहज नेता बन गए थे, उदीयमान वर्ग जात्रा को मनोरंजन का एक निकृष्ट रूप मानता था और उसे केवल निम्नवर्गीय लोगों के उपयुक्त कहकर तिरस्कृत करता था। यह तिरस्कार सकारण था। उस समय तक वैष्णव संप्रदाय का धार्मिक उत्साह एक सुधारात्मक सामाजिक शक्ति के रूप में खप चुका था और जात्रा नाटक क्रमशः नीरस गीतों, अशिष्ट अश्लीलतापूर्ण हरकतों और निष्प्रभ धार्मिक विचारों की खिचड़ी बन चुके थे। यद्यपि उस काल के जात्रा नाटकों के कुछ लेखकों ने उन्हें

अव्यवस्थित चार या पांच अध्यायों में विभाजित कर, उनमें गद्यात्मक कथोपकथन रखकर और विविध प्रकार के विषयों को लेकर परंपरागत रंगमंच का अनुकरण करने के प्रयत्न किए थे, तथापि कलकत्ता में हर हालत में जात्रा, या गीताभिनय, जैसा कि उसे कहा जाता था, के पांव उखड़ते चले गए। 'विद्या सुंदर' तथा ऐसे ही अन्य नाटकों को जनसाधारण के बीच जो लोकप्रियता प्राप्त थी उसी लोकप्रियता ने उन्हें उन सामाजिक नेताओं की दृष्टि में निंदा का विषय बना दिया, जो कि मनोरंजन और कला के नए—और उनकी दृष्टि से अतिशय उत्कृष्ट—रूप, रंगमंच, के प्रश्रयदाता थे। 'समाचार दर्पण' और 'संवाद प्रभाकर' जैसे उस समय के प्रभावशाली समाचार-पत्रों ने संपादकीय लेख लिखे, जिनमें नैतिकता के अभाव और हानिकर प्रभाव के कारण जात्रा नाटकों की निंदा की गई थी। विद्रोही कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने स्पष्ट शब्दों में जात्रा की निंदा की और सुप्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चटर्जी ने भी ऐसा ही किया।

किंतु वस्तुतः जात्रा की लोकप्रियता कम नहीं हुई। विशाल ग्रामीण क्षेत्रों में लोक मनोरंजन तथा शिक्षण के माध्यम के रूप में उसका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा। नगरों में भी उसे प्रश्रयदाताओं और दर्शकों का कभी अभाव नहीं रहा। विचारों और अभिरुचियों में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप स्वयं को ढालकर उसने बारंबार अपनी जीवंतता का प्रदर्शन किया। स्वयं 'विद्या सुंदर' के दौर ने जात्रा को उसके व्यर्थ के भार से मुक्त कर दिया था। आगे चलकर, जब घटिया किस्म का मसखरापन और भोंडी अश्लील हरकतें जात्रा नाटकों की मुख्य बातें बन गईं तो एक प्रतिभासंपन्न लेखक मोतीलाल राय ने उसके कूड़ा-करकट की कुछ सफाई की और उसे धर्म और लोक संस्कृति से पुनः संबद्ध कर दिया। वे अपने नाटकों के विषय हिंदू महाकाव्यों से लेते थे, किंतु उनके हाथों में पड़कर उनमें वह परिष्कृति तथा समकालीन सुसंगति आ जाती थी जो कि पूर्वतर नहीं पाई जाती थी। कुरुक्षेत्र के महाविनाश के अंत में महाराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के विषय को लेकर उन्होंने जो नाटक लिखा था उसे अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। आगे चलकर, वर्तमान शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशकों में, जब राष्ट्रवाद हमारे देश का प्रबल राजनैतिक मनोभाव बन गया था तो मुकुंद दास ने जो कि गत सौ वर्षों में अत्यधिक प्रसिद्ध रचनाकार हो चुके हैं, रंगमंच के इस लोक रूप को प्राणान्वित किया और उसे राष्ट्रीय संदेश के प्रसार का एक अतीव शक्तिशाली माध्यम बना दिया। मोतीलाल राय तथा मुकुंद दास दोनों ने ही जात्रा को पुनरुज्जीवित किया और उसे शिक्षण के उस प्राथमिक कार्य का माध्यम बनाया, जो कि मनोरंजन के लोक रूप कम-शिक्षित कृषिजीवी समाजों में किया करते थे।

जात्रा नाटकों का प्रदर्शन किसी समतल भूमि के वर्गाकार या वृत्ताकार क्षेत्र में किया जाता है, जिसके चारों ओर दर्शक बैठा करते हैं और पुराने जमाने

में अभिनेता भी बैठा करते थे। अभिनेताओं के आगमन और बहिर्गमन के लिए आज हम जो संकीर्ण मार्ग देखते हैं उसका प्रादुर्भाव बाद में हुआ था। गायक मंडली के लोग और संगीतकारों का स्थान अभिनय क्षेत्र के एक पार्श्व में होता है। चूंकि नाटक दृश्यपटों, विद्युत्दीपों या ध्वनिक सुविधाओं जैसे कृत्रिम साधनों पर निर्भर नही रहता था, और वस्तुतः निर्भर रह भी नहीं सकता था, और चूंकि उसके अधिकांश दर्शक सीधे-सादे आम लोग हुआ करते थे, इसलिए जात्रा में जोर-जोर से बोलकर अभिनय करने की शैली अपनाई जाती थी। बंगला रंगमंच पर जात्रा की परिपाटियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इन दोनों के मध्य का अंतर उतना अधिक नहीं था जितना रंगमंच के पुराने उत्साही जन माना करते थे। बहरहाल, अंतर अधिक होने के बजाय कम होता गया। पिछली शताब्दी की समाप्ति तक, प्रमुख जात्रा समूहों ने कलकत्ता को अपना केंद्र बना लिया और रंगमंच के अधिक निकट आने के लिए जात्रा ने स्वयं को अनेक प्रकार से बदला। कालांतर में रंगमंच ने जात्रा की अनेक औपचारिक विशेषताओं को, सदैव उसके बारे में सतर्क न रहते हुए, अपनाया। पिछले बीस वर्षों या लगभग इतने ही समय के दौरान पश्चिम बंगाल में जात्रा के प्रति लोगों की रुचि का उल्लेखनीय पुनर्जागरण हुआ है। अपने आधुनिक विचारों के लिए सुविख्यात समकालीन नाटककारों ने सफल जात्रा नाटक लिखे हैं और अनेक अभिनेता एक जात्रा नाटक के बाद दूसरे नाटक में अभिनय करते हैं। जात्रा अधिकाधिक नगरीकृत हो गई है—ऊंचे मंचों, रंगमंचीय प्रकाश-व्यवस्था और माइक्रोफोनों का होना आज मामूली बात बन गयी है—जबकि रंगमंच जात्रा से उन सूत्रों को पाने की कोशिश करता रहा है जिनके सहारे रंगमंचीय व्यवधानों को दूर किया जा सके।

तथापि यह एक नई बात है। जिन लोगों ने बंगला रंगमंच के शैशव काल में उसका संवर्धन किया था उन लोगों की अभिवृत्ति भिन्न थी। उन लोगों ने उस समय के भ्रष्ट जात्रा नाटकों से मुख मोड़ लिया और वे लोग प्रेरणा और अनुकरणीय प्रादर्शों के लिए कलकत्ता के अंग्रेज व्यापारी-शासकों के रंगमंच के मुखापेक्षी थे। चूंकि प्रेरणा तात्कालिक प्रयोजन थी और बंगला रंगमंच पर उसका स्थायी प्रभाव पड़ा, इसलिए प्रादर्शों का एक संक्षिप्त वृत्तांत दिया जा सकता है।

जाब चारनक ने सन् 1690 में हुगली नदी के किनारे सूतानाटी ग्राम में अपनी नाव का लंगर डाला और इस प्रकार एक ऐसे शहर की नींव पड़ी जो "संयोगवश बना और संयोगवश संचालित हुआ।" एक सौ से भी कम वर्षों में वह एक व्यस्त और हलचल-भरा व्यापारिक केंद्र बन गया, जो कि धन कमाने के लिए आए हुए अंग्रेज व्यापारियों द्वारा पूर्व में स्थापित किए गए अनेक व्यापारिक

केंद्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। इस बात को शीघ्र ही महसूस करते हुए कि व्यापार की वृद्धि बंदूक की नली से निकलने वाली शक्ति पर ही निर्भर थी, उन्होंने एक किला और एक तोपखाना बनवा लिया। किंतु उन्होंने सन् 1753 में एक नाटकघर भी बनवाया, जो कि सन् 1756 के युद्ध में किले और कलकत्ता के नवाब सिराजुद्दौला के हाथ में चले जाने पर बंद हो गया। नवाब की यह विजय अल्पकालिक थी। क्लाइव ने छह महीनों के भीतर ही कलकत्ता पर फिर से कब्जा कर लिया और छह महीनों बाद पलासी के युद्ध में नवाब सिराजुद्दौला को हरा दिया। सन् 1765 में दिल्ली के शक्तिहीन मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय ने बंगाल की दीवानी औपचारिक रूप से ईस्ट इंडिया कंपनी को दे दी। जब अंतत: क्लाइव ने सन् 1769 में भारत से चला गया तो साम्राज्य की नींव दृढ़ता से स्थापित हो चुकी थी। वारेन हेस्टिंग्ज ने उसे सुदृढ़ किया और सन् 1773 में मुर्शिदाबाद के बजाय कलकत्ता को राजधानी बनाया।

वारेन हेस्टिंग्ज के गवर्नर जनरल रहने के दौरान ही (सन् 1772-1785) सन् 1779 में कलकत्ता थिएटर का निर्माण हुआ। उसके साथ एक सौ वर्षों का और कुछ अधिक वर्षों की अखंडित कालावधि का आरंभ हुआ जिसके दौरान कलकत्ता में अंग्रेजी समुदाय के बीच रंगमंचीय क्रियाकलापों का विस्तार होता रहा। उसके लिए वातावरण अनुकूल हो गया था। देश के इस भाग में शांति थी। कानून की स्थापना हो चुकी थी और उसे लागू किया जा रहा था, व्यापार फल-फूल रहा था, कंपनी के अधिकारियों के पास धन था, जिनका आना निरंतर बढ़ता जा रहा था किंतु जिनका सामाजिक जीवन कुछ-कुछ सीमाबद्ध हो गया था। क्रिसमस और गवर्नर जनरल के 'एट होम' और 'बाल' जैसे प्रासंगिक अवसरों को छोड़, अंग्रेज पुरुष और उसकी मेमसाहिब के लिए सामाजिक उत्सवों के रूप में बहुत कम अवसर उपलब्ध थे। इन परिस्थितियों में, कलकत्ता अंग्रेजी रंगमंच, जो कि इंग्लैंड से आने वाले अभिनय कला में प्रवीण व्यक्तियों द्वारा निरंतर पोषित होता रहा, अंग्रेजों के सामाजिक जीवन का एक केंद्र बन गया।

अंग्रेजी रंगमंच पर प्रस्तुत किए गए नाटकों और प्रदर्शनों का समकालीन वृत्तांत मनोरंजक है। समाचार-पत्रों में उनके बारे में जो कुछ प्रकाशित होता था और उससे संबद्ध लोगों में जो उत्साह और प्रवीणता थी, उसे पढ़कर आश्चर्य होता है। 'कलकत्ता थिएटर' तैंतीस वर्षों तक चला और फिर बढ़ते हुए कर्जों के कारण बंद हो गया। इसके बीच 'मिसेज ब्रिस्टोज प्राइवेट थिएटर' के संक्षिप्त किंतु देदीप्यमान अस्तित्व का प्रादुर्भाव और तिरोभाव भी हुआ, जिस थिएटर में कलकत्ता के अंग्रेजी समाज की प्रिय और उत्साही मिसेज एमा ब्रिस्टो युवकों और वृद्धों को समान रूप से रोमांचित किया करती थीं। एच० ई० बस्टीड ने

अपनी रचना 'इकोज फ्राम ओल्ड कैलकटा' में लिखा है कि जब सन् 1790 में वे चली गईं तो "बहुत समय तक कलकत्ता के लोग व्याकुल रहे।" व्हेलर प्लेस थिएटर, डम-डम थिएटर, बैटाकोनाह् थिएटर और एथेनियम का अस्तित्व भी अल्पकालिक रहा। सर्वाधिक विख्यात था चौरंगी थिएटर। जब नवंबर, 1813 में इसका उद्‌घाटन हुआ तो गवर्नर जनरल, लार्ड मोइरा उपस्थित थे। इस थिएटर से सुविख्यात मिसेज लीच संबद्ध थीं, जो आगे चलकर और भी प्रसिद्ध सान्स साउसी थिएटर की मार्गदर्शिका बनीं। चौरंगी थिएटर की श्रेष्ठता का दावा इस प्रतिभाशाली अभिनेत्री के उससे संबद्ध होने या उसकी प्रस्तुतियों की उत्कृष्टता पर ही निर्भर नहीं है। उसके संस्थापकों में उस काल के अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति सम्मिलित थे, जैसे—संस्कृत विद्वान डा० एच० एच० विल्सन, हिंदू कालेज के सुप्रसिद्ध शिक्षक डी० एल० रिचर्डसन, प्रतिभा संपन्न सिविल सर्वेंट तथा एक कोवेंट गार्डन नर्तकी के पुत्र हेनरी मेरेडिथ पार्कर और सुविख्यात द्वारकानाथ टैगोर।

रंगमंच से द्वारकानाथ टैगोर की संबद्धता उस परिवर्तन की द्योतक थी, जो कि भारत में भारतीयों और अंग्रेजों के बीच के संबंधों में धीरे-धीरे होता रहा था। द्वारकानाथ टैगोर, जो कि अपनी दानशीलता और शाहखर्ची के कारण 'प्रिंस' कहे जाते थे, एक प्रबुद्ध रईस थे। वे किसी भी राज-दरबार की शोभा बढ़ा सकते थे। किंतु कलकत्ता में रहने वाले अंग्रेज, जो कि हर स्थिति में उच्चतर स्तर के लोग थे, एक अलग ही दुनिया में रहा करते थे, जिसमें 'देशी' लोग केवल नौकरों-चाकरों के रूप में ही रह सकते थे। वस्तुत: कलकत्ता थिएटर ने केवल अंग्रेज व्यक्तियों को ही द्वारपालों तथा प्रवेशकों के रूप में रखा था। ऐसे जो सामाजिक आदान-प्रदान के अवसर हुआ करते थे, वे अत्यधिक औपचारिक हुआ करते थे, जिनमें प्रत्येक पक्ष जानता था कि उसका अपना स्थान क्या है और वह अपनी दूरी बनाए रखता था। किसी थिएटर के प्रबंध जैसे मनोरंजनात्मक क्रिया-कलाप से द्वारकानाथ टैगोर की सक्रिय संबद्धता यह दर्शाती है कि परिस्थिति कैसे बदल गई थी।

जब अगस्त, 1848 में जब एक 'देशी भद्रजन' वैष्णवचरण औडी को सान्स साउसी में अभिनेता के रूप में लिया गया और एक प्रदर्शन में ओथेल्लो की भूमिका दी गई तो परिवर्तन सुस्पष्ट हो गया। 'दि कैलकटा स्टार' में प्रकाशित एक पत्र के शब्दों में, "एक बिन रंगे काले ओथेल्लो के रंगमंच पर प्रथम अवतरण" की उद्‌घोषणा से "सारे कलकत्ते में हलचल मच गई।" अंग्रेजी तथा बंगला समाचार-पत्रों में वास्तविक प्रदर्शन की सुविस्तृत सूचनाएं प्रकाशित हुईं। सामाजिक संबंधों में हुए परिवर्तन को प्रतिबिंबित करने के अलावा यह घटना इस बात को भी उद्‌घाटित करती है कि बंगालियों के उच्च और मध्यम वर्गों ने

रंगमंच की संकल्पना को कितनी उत्सुकता से अपनाया था।

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में ही शहर के बंगाली निवासियों के एक वर्ग में अंग्रेजी नाटकों के प्रति पर्याप्त रुचि जाग चुकी थी। यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि उन दिनों भारतीय दर्शकों की संख्या कितनी हुआ करती होगी। किंतु उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ उनकी संख्या निरंतर बढ़ती गई। 'ओरियंटल आब्जर्वर' ने 22 फरवरी, 1840 के अंक के संपादकीय लेख में लिखा था : "कलकत्ता के दर्शक वर्ग—बल्कि यों कहिए कि भारतीय दर्शक वर्ग—की तुलना, जो कि एक अत्यंत आदरणीय दर्शक वर्ग है, सदैव यूरोप के किसी भी भाग के दर्शक वर्ग से की जाती है।"

शहर में जनसंख्या और धन से होनेवाली सहवर्ती वृद्धि के साथ-साथ भारतीय दर्शकों की संख्या—चाहे वे अब 'अत्यंत आदरणीय' रहे हों या न रहे हों—भी बढ़ती गयी और जब सान्स साउसी ने 'हिन्दू ओथेल्लो' का प्रदर्शन किया उस समय तक बंगालियों की संख्या नियमित दर्शकों के रूप में काफी बढ़ गई थी। हम बंगला दैनिक समाचार-पत्र 'संवाद प्रभाकर' में इन नाटकों की सुविस्तृत समीक्षाएं और अंग्रेजी दैनिक समाचार-पत्रों में "तरुण बंगाल के मित्रों के काफी तादाद में आने" के संवाद पाते हैं। निःसंदेह यह माना जा सकता है कि उनमें वे लोग सम्मिलित थे जिन्होंने बंगला रंगमंच की स्थापना में सहायता पहुंचाई थी और सक्रिय रूप से भाग लिया था।

उनके सामने कैसा रंगमंच था और किस प्रकार के नाटक थे? कुछ विवरणात्मक वृत्तांतों और कुछ धुंधले पड़ चुके फोटोग्राफों से हमें कोवेंट गार्डन, ड्रूरी लेन, थिएटर रायल आदि के वास्तु शिल्प और रंगमंचीय व्यवस्थापकों की प्रेतवत् उपस्थिति देखने को मिलती है। किंतु बाहरी सादृश्य को छोड़कर भी कलकत्ता का अंग्रेजी रंगमंच अन्य दृष्टियों से भी लंदन के रंगमंच की प्रतिकृति था—और फिर भी निकृष्ट प्रतिकृति नहीं था।

शेक्सपीयर के नाटकों के अतिरिक्त, उन सुखांत नाटकों, प्रहसनों और गंभीर नाटकों को चुना जाता था जो कि लंदन के और इंग्लैंड के प्रांतीय रंगमंचों में लोकप्रिय हुए थे। इस प्रकार, सन् 1814 और 1815 में विभिन्न रंगमंचों में प्रदर्शित नाटको में से इधर-उधर से लिए गए उद्धरणों से हम यह पाते हैं कि 'हैम्लेट', 'मैकबेथ', 'शी स्टूप्स टु कांकर', 'स्कूल फार स्कैंडल' तथा 'अर्ल आफ वारविक' के अतिरिक्त 'हनीमून', 'दि वेदर काक', दि सिक्स्टी-थर्ड लैटर' तथा अनेक अन्य भूले-बिसरे नाटक भी प्रदर्शित किए जाते थे।

अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि कलकत्ता के अंग्रेजी रंगमंचों में प्रतिभावान अभिनेताओं और प्रबंधकीय कार्यकर्त्ताओं की कभी भी कमी नहीं रही। मिसेज

ब्रिस्टो से आरंभ होते हुए, जिन्होंने सन् 1789 में अपने स्वयं के रंगमंच की स्थापना की थी, कलकत्ता के अंग्रेजी रंगमंचों में प्रतिभाशाली अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की एक अखंडित परंपरा नाटकों का प्रदर्शन करती रही। जिन विवेचनशील व्यक्तियों ने उन्हें अभिनय करते और गाते हुए देखा था उनके मनोरम वृत्तांतों को पढ़कर इस बारे में कोई संदेह नहीं रह जाता कि जेम्स विनिंग, मिसेज डीकल, मैडम घेरमेनविले तथा अनेक अन्य व्यक्तियों में उत्कृष्ट कोटि की योग्यता थी। उनमें से अनेक, उदाहरणार्थ मिसेज डीकल या मिस काउली, पिछली शताब्दी के पांचवें दशक में कलकत्ता आने के पूर्व लंदन के रंगमंच की विभूतियां थीं। किंतु इनमें से कोई भी व्यक्ति अतुलनीय मिसेज लीच का मुकानहीं कर सकता था, जिनके बारे में रंगभूमि के एक उत्कट प्रेमी ने, जो कि लंदन की रंगभूमि से और उसके सभी अभिनेताओं-अभिनेत्रियों से भलीभांति परिचित था, साग्रह कहा था कि "एक या दो असाधारण अपवादों को छोड़ लंदन की रंगभूमि पर अनेक वर्षों तक ऐसी कोई अभिनेत्री नहीं आई जो मिसेज लीच की बराबरी कर सकती थी।"[1]

इन नाटकों को और अभिनेता-अभिनेत्रियों को देखने के लिए ही बंगाली भद्र वर्ग के अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति और वे व्यक्ति भी, जिन्होंने ऐसी शिक्षा प्राप्त नहीं की थी, अधिकाधिक संख्या में आते थे। उन पर अंग्रेजी रंगमंच का जो प्रभाव पड़ा वह उस काल की सामाजिक-राजनैतिक पृष्ठभूमि को देखते हुए बहुत रहा होगा। विनोदिनी दासी, जो कि बंगला रंगमंच की महानतम अभिनेत्री थीं, अपनी आत्मकथा में लिखती हैं कि किस प्रकार, यद्यपि वे अंग्रेजी लिखना-पढ़ना नहीं जानती थीं, उनके परामर्शदाता तथा गुरु गिरीशचंद्र घोष उन्हें नियमित रूप से अंग्रेजी नाटक देखने के लिए भेजा करते थे और अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत किए गए चरित्राभिनय की उत्कृष्टता तथा दोषों पर उनसे घंटों चर्चा किया करते थे।

1. अमल मित्र द्वारा लिखित 'कोलकाताय बिदेशी रंगालय' में पृष्ठ 142 पर उद्धृत, जे० ह्यूम्स।

2

अव्यवसायी नाटक तथा नाटककार

अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार, व्यापारिक परिवारों की बढ़ती हुई समृद्धि, अनुपस्थित जमींदारी, मध्यम वर्ग का उदय और कलकत्ता की विस्फोटक वृद्धि; एक ओर तो जनसाधारण के बीच पारंपरिक जात्रा के प्रति प्रबल आकर्षण और, दूसरी ओर, बुद्धिजीवी वर्ग के बीच उसकी प्रतिक्रिया; कलकत्ता के रंगमंच पर नाट्य साहित्य और अंग्रेजी नाटक के रूपों से संपर्क—इन सभी बातों ने बंगला रंगमंच के लिए, जैसा कि आज हम उसे जानते हैं, भूमि को उर्वर बना दिया।

किंतु इन कारकों के प्रवर्तनशील होने के पूर्व भी बंगला भाषा में एक नाटक—वस्तुत: दो नाटकों का एक दोहरा विज्ञापन-पत्र—इस प्रयोजन के लिए निर्मित एक रंगशाला में प्रदर्शित किया गया। यद्यपि उसके दो ही प्रदर्शन हुए और दोनों ही अनुवाद थे, तथापि यह तथ्य उल्लेखनीय है कि एक उल्लेखनीय व्यक्ति ने जो कि एक रूसी यात्री था और जिसका नाम हेरासिम लेबेदेव था, इस प्रयास को सफल बनाया।

भारत में आने के बाद लेबेदेव भारतीय भाषाओं में रुचि लेने लगा। वह कलकत्ता में सन् 1787 में आया और भाषाएं सीखने के दौर में उसने बंगला भाषा को उस भाषा में कोई नाटक प्रदर्शित करने के लिए चुना। अपने बंगला शिक्षक गोलोकनाथ दास की सहायता से उसने दो अंग्रेजी नाटकों 'दि डिज्गाइज' और 'लव इज दि वैस्ट डाक्टर' का अनुवाद किया जिनमें उसने प्रचुर स्वतंत्रता का उपयोग करते हुए अनेक 'भारतीय' पात्रों को प्रविष्ट करा दिया। अपने शिक्षक से "देशी अभिनेताओं और अभिनेत्रियों" की उपलब्धता से आश्वस्त होकर लेबेदेव ने डोम टोला में एक नाट्यशाला का निर्माण आरंभ किया जो कि "बंगला शैली में सुसज्जित थी" और 27 नवंबर, 1795 को नाटकों का प्रदर्शन किया। प्रदर्शन 21 मार्च 1796 को दुबारा किए गए और इस समय प्रवेश-शुल्क "बाक्स और पिट" के लिए आठ रुपये से बढ़ाकर एक सोने की मोहर कर दिया गया। लेबेदेव ने लिखा है कि दोनों अवसरों पर दो सौ व्यक्तियों के बैठ सकने योग्य नाटकघर 'खचाखच' भर गया था।

लेबेदेव उसके बाद शीघ्र ही भारत से चला गया और उसने जो अच्छा कार्य

आरंभ किया था उसे चलाने वाला कोई न रहा। वस्तुत: उसे कोई व्यक्ति चला भी नहीं सकता था। एक बात तो यह थी कि उस समय कोई बंगला नाट्य साहित्य विद्यमान नहीं था। लिबेदेव के प्रयास के बाद बंगला नाटकों के प्रदर्शन के लिए किसी अन्य रंगशाला का प्रादुर्भाव होने के पहले लगभग चालीस वर्ष व्यतीत हो गए। यह रंगशाला थी हिन्दू थिएटर, जिसका निर्माण 1831 में प्रसन्न कुमार टैगोर ने कलकत्ता के उपान्त में अपने 'उद्यान गृह' में किया था। पुनश्च, नाटक एक अनुवाद था, जो कि इस बार संस्कृत से अनूदित था। कुछ वर्ष बाद सन् 1835 में नवीन चन्द्र बोस द्वारा उत्तर कलकत्ता में अपने महलनुमा घर में निर्मित रंगमंच पर 'विद्या सुंदर' का प्रदर्शन हुआ। संभवत: वह एक ऐसा पहला बंगला नाटक था जो किसी 'रंगशाला' में प्रदर्शित किया गया था। इसी समय के आसपास नई पीढ़ी के लोग जो कि अंग्रेजी और पश्चिमी विचारों से परिपूर्ण थे—जिन्हें तरुण बंगला कहा जाने लगा—अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करने वाले दो महाविद्यालयों, डेविड हेयर एकेडेमी तथा ओरियंटल सेमिनरी, में इस प्रयोजन के लिए निर्मित प्रेक्षागृहों में शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाटकों का प्रदर्शन करने लगे थे।

सन् 1835 में 'विद्या सुंदर' के प्रदर्शन के पश्चात्वर्ती वर्षों में निजी रंगमंचों के भवनों की संख्या के साथ-साथ नाटकों के प्रदर्शनों की संख्या भी बढ़ी। सातवें दशक तक, बंगला नाटक प्रदर्शन बहुत कुछ नियमित कार्य जैसा हो गया था। यद्यपि जिन रंगशालाओं का प्रादुर्भाव हुआ था वे धनी लोगों के प्रासादों में निर्मित अस्थायी संरचनाएं थीं और नाटक आमंत्रित दर्शकों के सम्मुख अभिनीत किए जाते थे, तथापि जन-साधारण के मध्य रंगमंच के प्रति प्रेम को बढ़ाने में उनका जो योगदान था वह उपेक्षणीय नहीं था। उस काल के समाचार-पत्रों में नाटकों संबंधी जो सुविस्तृत वृत्तांत प्रकाशित होते थे वे रंगमंच की बढ़ती हुई लोकप्रियता के प्रमाण हैं।

इस प्रकार की निजी रंगशालाओं में दो रंगशालाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक था टैगोर घराने का जोड़ासांको थिएटर। वह उत्तर कलकत्ता में जोड़ासांको में टैगोर घराने की विशाल हवेली के प्रांगण में निर्मित था। दो टैगोर, जो उसमें निर्माण के लिए मुख्यत: उत्तरदायी थे, नाटककार ज्योतीन्द्रनाथ तथा गुणेन्द्रनाथ थे। बंगला भाषा में मूल नाटकों के लेखन को प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने पुरस्कार देने का निर्णय किया। एक समारोह में, जिसमें उनके लोग उपस्थित थे, रामनारायण तर्करत्न को बहुविवाह विषयक उनके सामाजिक नाटक 'नब नाटक' के लिए, (जिसे एक ऐसे निर्णायक मंडल द्वारा जिसमें पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा राजकृष्ण बनर्जी जैसे सुविख्यात व्यक्ति सम्मिलित थे, पुरस्कार प्रदान करने की दृष्टि-से 'पर्याप्त गुणवत्तायुक्त' निर्णीत किया गया

था) "चांदी की मंजूषा में" रखी 200 रु० की राशि का प्रथम पुरस्कार देने का एक मनोरंजक वृत्तांत पढ़ने को मिलता है।[1]

दूसरी रंगशाला थी बेलगाछिया नाट्यशाला, जिसकी उस काल की रंगशालाओं में श्रेष्ठता शहर के संभ्रांत वर्ग और उस समय के समाचार-पत्रों द्वारा युक्त रूप से अभिस्वीकार की गई थी। शहर के उत्तरी उपान्त में बेलगाचिया में पैकपाड़ा के राजाओं के उद्यान-गृह में निर्मित इस रंगशाला ने मूल संस्कृत नाटक 'रत्नावली' के रामनारायण तर्करत्न द्वारा किए गए बंगला भावानुवाद 'रत्नावली' के सन् 1858 में हुए प्रथम प्रदर्शन के पश्चात् लोगों में अभूतपूर्व उत्साह जाग्रत किया। प्रताप चन्द्र सिनहा और उनके बंधु ईश्वर चन्द्र सिनहा कला तथा विद्या के विख्यात प्रश्रयदाता थे। उनकी सक्रिय रुचि से बेलगाछिया नाट्यशाला शीघ्र ही शहर में रंगमंचीय गतिविधियों का केंद्र बन गई। बंगला के भावी विकास में बेलगाछिया नाट्यशाला का उल्लेखनीय योगदान यह था कि उसने कवि मधुसूदन दत्त को नाटककार बना दिया। नाटक लिखने की ओर उनका ध्यान पहली बार तब आकृष्ट हुआ जब उनसे अनुरोध किया गया कि नाटकों के अंग्रेज दर्शकों के लाभार्थ 'रत्नावली' का अंग्रेजी में अनुवाद करें। उसके कुछ ही समय बाद उन्होंने अपना प्रथम बंगला नाटक 'शर्मिष्ठा' लिखा, जो कि 3 सितंबर, 1859 को बेलगाछिया नाट्यशाला में प्रदर्शित किया गया।

एक नाटककार के रूप में मधुसूदन दत्त के प्रादुर्भाव ने बंगला रंगमंच को सन् 1862 में सार्वजनिक रंगमंच के आरंभ के पहले के दशक में वह संबल दिया जिसकी बहुत आवश्यकता थी। उनके अस्तित्व के अधिकांश समय में 'निजी' रंगशालाओं ने लोगों को नाटक के नए रूप से सुपरिचित कराने की दिशा में बहुत कार्य किया। किंतु उनके मार्ग में एक अजीब रुकावट थी। नाटक मूलतः संस्कृत में थे और बंगला में अनूदित किए गए थे, किंतु रंगमंच पर उनके पात्रों को अंग्रेजी रंगशाला से उधार लिए गए पुराने परिधान पहनाने पड़ते थे। यह अपरिहार्य था, क्योंकि वे मूल बंगला नाटक तो नहीं थे और तिरस्कृत जात्रा नाटक तो थे ही नहीं। आरंभ में अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त बंगालियों की पहली पीढ़ी के उत्साही लोगों ने अंग्रेजी नाटक का प्रदर्शन किया और इस दृष्टि से और अन्य दृष्टियों से शहर के अंग्रेज निवासियों का अनुकरण किया। किंतु इस बोध के जाग्रत होने पर कि नाटक उस भाषा में होने चाहिए जो कि जन साधारण द्वारा बोली जाती है, प्रश्रयदाताओं ने अंशतः राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना से संस्कृत नाटकों के अनुवादों का सहारा लिया। किंतु ऐसे नाटकों की संख्या अधिक नहीं थी। यद्यपि 'हिन्दू पेट्रियट' ने 30 जनवरी, 1857 को आशुतोष देव के घर में

1. ब्रजेन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय द्वारा लिखित 'बंगीया नाट्यशाला इतिहास', पृ० 45.

प्रदर्शित कालिदास के 'शकुंतला' नाटक पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि नाटक "एक वास्तविक बंगला नाटक" था, तथापि यह बात शीघ्र ही स्पष्ट हो गई कि यदि मूल बंगला नाटक प्रदर्शित न किए गए तो न तो अंग्रेजी और न ही संस्कृत नाटक बंगला रंगमंच को उसके शैशव में समाप्त हो जाने से बचा पाएंगे।

पिछली शताब्दी के लगभग मध्य में अनेक नाटककारों के प्रादुर्भाव से, जिनमें मधुसूदन दत्त भी एक थे, बंगला रंगमंच इस भवितव्यता से बच गया। यह समय की आवश्यकता के अनुरूप सचेतन रूप से हुई अनुक्रिया थी। किंतु प्रणेताओं का मार्ग निष्कंटक नहीं था। अनेक ऐसी बाधाएं थीं जिनका सामना करना था। एक ओर उन अंग्रेजी और संस्कृत नाटकों की प्रतिष्ठा का प्रश्न था जिनसे वे संबंध तोड़ रहे थे। दूसरी ओर, जात्रा का अचेतन आकर्षण था। इसके अतिरिक्त उन्हें समाज-सुधारकों के उत्साह से संतुष्ट रहना पड़ता था। उस विज्ञापन में, जिसमें जोड़ासांको थिएटर ने मूल बंगला नाटकों के लिए पुरस्कारों की घोषणा की थी, सुस्पष्टतः घोषित विषय था "हिंदू नारियां—उनकी स्थिति और असहायता।" परिस्थितियों के ऐसे अशुभ संयोग को देखते हुए यह आश्चर्य की बात है कि बंगला नाट्य साहित्य आगे बढ़ता रहा। मधुसूदन दत्त तथा दीनबंधु मित्र वे दो व्यक्ति थे जिन्होंने इसे संभव बनाया।

तथापि रामनारायण तर्करत्न को ही सामान्यतः प्रथम बंगला नाटककार माना जाता है। उन्होंने सन् 1854 में 'कुलीनकुलसर्वस्व' नामक एक नाटक लिखा। वह रंगमंच के लिए लिखा गया था और वह एक ऐसा पहला नाटक था, जिसमें नाटकीय रचना का बोध था, भले ही वह बोध भ्रूणीय रूप में था। पात्रों को व्यक्तियों के रूप में परिकल्पित किया गया है और उनकी नियतियों को अंकों और दृश्यों में विभाजित विभिन्न कार्यों के माध्यम से उद्घाटित किया गया है। यह नाटक सर्वप्रथम मार्च, 1857 में रामजय बसाक के घर में प्रदर्शित किया गया और उसे वहां तथा अन्यत्र बारंबार प्रदर्शित किया गया। रामनारायण तर्करत्न ने अनेक अन्य नाटक लिखे, जिनमें 'कुलीनकुलसर्वस्व' की भांति जाति प्रथा की कुरीतियों पर विवेचन किया गया था।

माइकेल मधुसूदन दत्त रामनारायण के समकालीन थे और उन्होंने 'कुलीन-कुलसर्वस्व' के प्रदर्शन के कुछ बाद ही नाटक लिखना प्रारंभ किया था। मधुसूदन दत्त (1824-1873), जो कि जीवन और साहित्य में एक विद्रोही थे, तरुणावस्था में यूरोप के साहित्य तथा पश्चिमी विचारधारा से बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होंने हिन्दू कालेज को जहां कि वे एक छात्र थे, छोड़ दिया और ईसाई बन गए तथा बिशप्स कालेज में अध्ययन करते समय उन्होंने अंग्रेजी, फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत साहित्य में अवगाहन किया। कालेज में पढ़ने के दौरान ही वे एक कवि के रूप में विख्यात हो गए थे और उन्होंने अपने सर्जनात्मक जीवन के

प्रथम 'पंद्रह वर्षों में अंग्रेजी में लिखा। जब बेलगाछिया नाट्यशाला से अपने संपर्क के कारण वे बंगला में नाटक लिखने लगे तो उन्होंने अपने मित्र गौरचन्द्र बसाक को लिखे एक पत्र में घोषणा की कि मैं "अपने उन देशवासियों के लिए लिख रहा हूं जो कि वैसा ही सोचते हैं जैसा कि मैं सोचता हूं, जिनका मन पश्चिमी विचारों और विचार-प्रणालियों से सराबोर है।" तथापि अपने प्रथम नाटक 'शर्मिष्ठा' की सामग्री के लिए उन्होंने महाभारत की एक कथा को चुना। सन् 1859 में बेलगाछिया नाट्यशाला में 'शर्मिष्ठा' का प्रदर्शन हुआ और वह सफल रहा। एक महीने के भीतर छह बार उसका प्रदर्शन हुआ। कुछ ऐसे कारणों से जो कि पूर्णतः रंगमंचीय नहीं थे, उनके दो अन्य सुदीर्घ नाटकों, 'पद्मावती' तथा 'कृष्णाकुमारी' को उतनी ही लोकप्रियता नहीं मिली। आधुनिक पाठक को ये तीन नाटक पुराने जान पड़ेंगे। उनमें मधुसूदन ने अपने शास्त्रीय कवि को छोड़ दिया था और यूरोपीय साहित्य के प्रति उनकी मुग्धता नाटककार पर हावी हो गई थी। वस्तुतः, एक पत्र में, बिना खेद प्रकट किए, उन्होंने स्वीकार किया कि उनमें कुछ 'विदेशीपन जैसा' था।

उनके द्वारा लिखित गंभीर नाटक नहीं बल्कि उनके दो सुखांत नाटक रंगमंचीय नाटकों के रूप में जीवित रहे हैं। 'इकेइ की बोले सभ्यता ?' नामक एक नाटक में उन्होंने 'तरुण बंगाल' के युवकों पर, जो कि कट्टरपन के विरुद्ध विद्रोह के नाम पर शराबखोरी और वेश्यागमन में निमग्न थे, व्यंग्य किया था। दूसरे नाटक 'बूड़ो सालिकेर घरे रोन' में उन्होंने इसके दूसरे पक्ष अर्थात हिन्दू कट्टरपन के समर्थकों पर, जो कि धर्म पालन की आड़ में अपनी व्यभिचारिता और निर्धनों के शोषण को छिपाया करते थे, प्रहार किया है। हास्य, अनूठे संवादों तथा समाज के विभिन्न स्तरों के लोगों के सुतीक्ष्ण चित्रणों से परिपूर्ण होने के अलावा इन दो सुखांत नाटकों की अतिरिक्त विशेषता यह थी कि वे सहजता से मंचित किए जा सकते थे। एक सौ से भी अधिक वर्ष पूर्व सामाजिक व्यंग्य रचनाओं के रूप में लिखे गए ये नाटक, जिनमें पहले ऐसे कोई नाटक नहीं लिखे गए थे जिनसे सहारा लिया जाता, आज भी प्रदर्शित किए जाते हैं और दर्शकों को सहज आकर्षित करते हैं। तथापि, मधुसूदन के स्वयं के जीवन-काल में ये दो सुखांत नाटक अपने स्वयं के गुणों के कारण बहुत प्रभावकारी थे। एक या दो प्रदर्शनों के बाद उनका प्रदर्शन नहीं किया गया, जिससे लेखक को बहुत निराशा हुई और उन्होंने उसके बाद नाटक लिखना बंद कर दिया।

रामनारायण तथा मधुसूदन के एक समकालीन लेखक दीनबंधु मित्र (सन् 1830-1873) ने सामाजिक परिस्थितियों पर उपर्युक्त दो लेखकों की अपेक्षा अधिक अनुभूति के साथ लिखा। इसके अतिरिक्त उन्हें नाट्य शिल्प की अधिक अच्छी समझ थी। वे एक उत्कृष्ट नाटककार थे, जिनके नाटकों ने, किसी

अन्य नाटककार की अपेक्षा, उदीयमान बंगला रंगमंच को अधिक सुदृढ़ आधार-भूमि प्रदान की। उनके दो नाटक 'सधाबर एकादशी' और 'नीलदर्पण' नाट्य-नर्णय के स्थापित निकषों पर खरे उतरते हैं। बंगला रंगमंच में शायद ही कोई ऐसा अभिनेता हुआ हो जिसने 'सधाबर एकादशी' के दुःशील, स्नेहार्द्र मद्यप नीमचंद की भूमिका अभिनीत करना न चाही हो या अभिनीत न की हो। यह नाटक उन नवयुवकों की स्वेच्छाचारिता पर लिखा गया है जो अपने जीवन में स्वतंत्रता और स्वैराचार के बीच विभेद नहीं कर सकते थे। किंतु चरित्रों के चित्रण में जिन्हें हास्यास्पद दुर्बल मनुष्य बताया गया है, कोई विद्वेष नहीं है। कथा-वस्तु की विनोदपूर्णता और चटपटे तथा मुहावरेदार कथोपकथन सामान्य रंगमंच-प्रेमियों के बीच नाटक की लोकप्रियता सुनिश्चित कर देते थे।

दूसरा अधिक प्रसिद्ध नाटक 'नीलदर्पण' बंगला नाटक साहित्य में विरोध का सर्वप्रथम नाटक है। उसकी विषय-वस्तु है अंग्रेज नील बागान मालिकों द्वारा लोगों का शोषण। इस नाटक में एक भूमिस्वामी गोलक बसु और दूसरे किसानों का उनके हाथों होने वाला उत्पीड़न वर्णित है। बागान मालिकों के अत्याचार इतने कुख्यात हो गए थे कि शासन को मजबूर होकर नील के बागानों तथा व्यापार में विद्यमान स्थितियों की जांच के लिए एक आयोग नियुक्त करना पड़ा। 'नीलदर्पण', जिसमें उनमें से कुछ को बेनकाब किया गया है, सुस्थापित ब्रिटिश वाणिज्यिक हितधारियों और इसलिए अप्रत्यक्षतः उस काल के ब्रिटिश शासकों पर प्रहार करने के नाटककार के साहस का प्रमाण है। उसमें एक दृश्य है, जिसमें मिस्टर रोग, एक बागान मालिक, एक किसान की पुत्री क्षेत्रमणि को पकड़ लेता है।

रोग : प्यारी, प्यारी, मेरे पास आओ।

क्षेत्रमणि : साहब आप मेरे पिता हैं, मेहरबानी कीजिए······मुझे जाने दीजिए (रोग के हाथों को पकड़कर अनुनय करती है)। कृपया मुझे जाने दीजिए, आप मेरे पिता हैं।

रोग : मैं तुम्हारे बच्चे का पिता होना चाहता हूं। बिस्तर पर आओ वरना तुम्हारे पेट पर लात मार दूंगा।

क्षेत्रमणि : आह ! मेरा बच्चा मर जायेगा। मैं गर्भवती हूं। दया कीजिए। कृपया मुझे जाने दीजिए। मैं गर्भवती हूं।

रोग : (उसके कपड़ों को फाड़ते हुए) मैं तुम्हें नंगी देखूंगा। तभी तुम शरमाना छोड़ोगी।

क्षेत्रमणि : साहब, मैं आपकी मां हूं, मुझे नंगी न कीजिए। आप मेरे पुत्र हैं, मेरे कपड़े मत उतारिए······।

आगे चलकर इस दृश्य में तारप, एक किसान और गोलक बसु का पुत्र आता

है और रोग को पीटता है।

इस नाटक ने तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न की और रेवरेंड जेम्स लांग, एक अंग्रेज मिशनरी को, जिन्होंने एक अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया था—जिसके बारे में यह विश्वास किया जाता है कि मधुसूदन दत्त ने किया था—अपने उत्साहके लिए एक महीने का कारावास भुगतना पड़ा।

'नीलदर्पण' दीनबंधु का पहला नाटक था, जोकि लोगों की सामाजिक चेतना जाग्रत करने के लिए लिखा गया था। तथापि वह तुलनात्मक दृष्टि से नौसिखिएपन के चिन्हों से मुक्त है। हम यह देखते हैं कि, मधुसूदन के विपरीत, यह लेखक पूरी तरह से एक नाटककार था। खेद का विषय है कि दीनबंधु ने इस प्रकार के अधिक नाटक नहीं लिखे बल्कि अपनी प्रतिभा को सुखांत नाटक तथा रोमांसवादी साहित्य लिखने की ओर मोड़ दिया।

रामनारायण, मधुसूदन तथा दीनबंधु की कृतियों में कतिपय सामान्य लक्षण पाए जाते हैं। एक लक्षण है सामाजिक जागरूकता और सोद्देश्य विषयवस्तु। दूसरा लक्षण, जिसे अगली पीढ़ियों के नाटककारों द्वारा नाट्य साहित्य को क्षति पहुंचाते हुए परित्यक्त कर दिया गया, समाज के निम्नतर स्तरों से लिए गए पात्रों की उपस्थिति तथा लोकभाषा का प्रयोग था। तीसरा सामान्य लक्षण था कुछ अतिरंजित हास्य-विनोद, जो बहुधा अश्लील हो जाता था। निःसंदेह ये सभी लक्षण ऐसे हैं जो लोकप्रियता दिलाते हैं। यदि इनमें लोकप्रिय रंगमंच के अन्य तत्व अर्थात संगीतनाटकीय संगीत का अभाव था तो इस काल के मनमोहन बसु के नाटक इस हानि की भरपाई कर देते थे। इनमें लंबे-लंबे संगीतमय अंश हैं और ये उन नाटकों के, जिन्हें आगे चलकर संगीत तथा नृत्य नाटक कहा जाने लगा, पूर्वज हैं।

इस प्रकार प्रथम सार्वजनिक रंगशाला के खुलने के पूर्व के दशक में बंगला नाटक साहित्य में पर्याप्त नाटक लिखे गए, जिनकी संख्या यद्यपि बहुत कम थी, तथापि उन्होंने कतिपय मानदंड स्थापित किए थे और वे नाटक प्रदर्शक समूहों के जीवित रहने के पर्याप्त स्रोत थे। बंगला में प्रकाशित नाटकों की सूची से यह पता चलता है कि तीन वर्षों अर्थात सन् 1869, 1870 तथा 1871 में इकतालीस नाटक लिखे गए थे, और सन् 1872 में प्रकाशित नाटकों की संख्या छब्बीस थी।[1] यह एक तर्कसंगत अनुमान है कि इनमें से अधिकांश नाटक किसी-न-किसी नाट्य संस्था द्वारा प्रदर्शित किए गए थे, जो कि फैलते हुए शहर की विभिन्न बस्तियों में दिखाई देने लगी थीं। तथापि यह बात बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है कि अधिकांश नाटक तथा उनके प्रदर्शनों के अभिलेख खो गए हैं।

1. आशुतोस भट्टाचार्य द्वारा लिखित 'बंगला नाट्यसाहित्येर इतिहास', परिशिष्ट।

3

व्यावसायिक रंगमंच

पिछली शताब्दी के सातवें दशक के उत्तरार्द्ध तक नाटकों का प्रदर्शन कलकत्ता में बारंबार होने लगा था और बंगाल के अन्य नगरों में, अधिकांशतः ढाका में भी, जो कि आज के बंगला देश की राजधानी है, नाटकों का प्रदर्शन होने लगा था। कलकत्ता में, रंगे हुए परदों वाले कामचलाऊ रंगमंच घरों के चौखूंटे आंगनों या खुले स्थानों में, जो कि इतने बड़े होते थे कि दो सौ या अधिक व्यक्ति बैठ सकें, निर्मित किए गए थे। विशेषतः मध्यम वर्ग के युवक उनकी ओर आकृष्ट थे। उनमें से अधिकांश युवकों के विचारों को शेक्सपीयर और नाटकों ने प्रभावित कर रखा था। जब कभी उनका वश चलता या जब कभी अवसर आता वे अंग्रेजी और साथ ही बंगला नाटक देखा करते थे। बहुधा वे स्वयं अपने समूह बनाकर नाटकों का प्रदर्शन किया करते थे।

ऐसा एक समूह था बागबाजार एमेच्योर थिएटर। उसके सदस्यों में दो नवयुवक गिरीशचंद्र घोष तथा शेखर मुस्तफी सम्मिलित थे, जो आगे चलकर लगभग चार दशकों तक बंगला रंगमंच पर छाए रहे। बागबाजार एमेच्योर थिएटर ने सर्वप्रथम सन् 1868 में दीनबंधु मित्र के नाटक 'सधाबर एकादशी' का प्रदर्शन किया। सन् 1870 में जो चौथा प्रदर्शन हुआ उसमें इस नाटक के लेखक दर्शकों में उपस्थित थे। इस प्रदर्शन में गिरीशचंद्र घोष ने नीमचंद की भूमिका की थी और अर्धेन्दु मुस्तफी ने जीवनचंद्र की भूमिका की थी। दीनबंधु उनके अभिनय से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनका यह कहते हुए अभिनंदन किया कि उन्होंने "नाटककार की कमियों की भरपाई कर दी"। दो वर्ष बाद, 11 मई 1872 को इस समूह ने, जिसका परिवर्तित नाम अब श्यामबाजार नाट्य समाज था, दीनबंधु मित्र के एक-दूसरे नाटक 'लीलावती' का प्रदर्शन किया। वह बहुत सफल रहा। समाचार-पत्रों में नाटक की जो समीक्षाएं प्रकाशित हुई थीं उनमें रंगमंच की साज-सज्जा, रंगे हुए रंगपटों और हर बिलास तथा एक नौकरानी की दोहरी भूमिका में अर्धेन्दु द्वारा किए गए अभिनय की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी।

इन प्रयासों की सफलता ने उन्हें और समूह के दूसरे लोगों को एक स्थायी रंगशाला का आकांक्षी बना दिया। वस्तुतः ऐसी रंगशाला की मांग कुछ समय से

हो रही थी। अगस्त, 1868 में 'न्यू ऐसेज' पत्रिका ने लिखा : "पांच वर्ष हुए इस शहर में रंगमंचीय तथा संगीतीय प्रदर्शनों की धारा प्रबल रूप से प्रवाहित होती आ रही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे प्रदर्शन जनता के लिए उद्वेजक जात्रा, हफ अखराई, पंचाली आदि की अपेक्षा अधिक लाभजनक हैं। किंतु शहर के अव्यवसायी रंगमंच के सामने जो रुकावटें हैं वे दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। रंगमंच का भविष्य अंधकारमय है। हम रंगशालाओं के मालिकों और प्रबंधकों से अनुरोध करते हैं : कृपया एक-दूसरे के करीब आइए, किसी सार्वजनिक स्थान में किसी नाट्यशाला का निर्माण कीजिए, वैतनिक आधार पर अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को नियोजित कीजिए, टिकटें बेचिए और उससे होने वाली आमदनी से खर्च चलाइए।" पूर्वतर, मई 1862 में पत्रिका 'सोमप्रकाश' ने अपने पाठकों को सूचित किया था कि "बाबू राधामाधव हालदार तथा अन्य व्यक्तियों ने एक सार्वजनिक रंगशाला के निर्माण का प्रयास किया था किंतु सहायता के अभाव में उसे छोड़ देना पड़ा।"[1]

अगले दस वर्षों में जनता से और समाचार-पत्रों से सहायता मिली और बागबाजार समूह इस विचार को एक मूर्त रूप देने के लिए आगे बढ़ा। दुर्भाग्यवश, टिकटें बेचने के विचार पर आपत्ति होने के कारण गिरीश घोष इस प्रयास से अलग हो गए। बंगला रंगमंच को वाणिज्यिक रूप से जीवित रहने योग्य बनाने में उनका जो योगदान था उसे दृष्टिगत रखते हुए यह घटना दुर्भाग्यपूर्ण थी। फिर भी, आयोजकों ने मधुसूदन सान्याल के विशाल प्रासाद के बाह्यगृह को 40 रु० के मासिक किराए पर लिया, एक रंगमंच बनाया, समूह और नाट्यशाला को नेशनल थिएटर नाम देने का निर्णय किया और रंगशाला के शुभारंभ के लिए नाटक 'नीलदर्पण' को चुना। उन्होंने नियमित पूर्वाभ्यास आरंभ किए और समाचार-पत्रों में विज्ञापन प्रकाशित होने लगे। 19 नवंबर के 'सुलभ-समाचार' को पढ़ने से यह जानकारी मिलती है कि प्रथम श्रेणी के टिकट एक रुपये के थे और दूसरी श्रेणी के टिकट आठ आने के थे।

आखिरकार, 7 दिसंबर, 1872 को कलकत्ता में टिकट खरीदने वाले लोगों के लिए एक रंगमंच पर पहला नाटक प्रदर्शित हुआ। समाचार-पत्रों ने इस घटना की बहुत प्रशंसा की। दैनिक 'अमृत बाजार पत्रिका' ने लिखा : "यह प्रदर्शन बहुत अधिक लिबास पहनने वाले बाबुओं द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रदर्शन नहीं था। ऐसा कोई भी प्रदर्शन, जो उनकी सनक पर निर्भर होता है, जनसाधारण के लिए लाभजनक नहीं हो सकता.........। उनका अभिनय उत्कृष्ट था.........। नाटक 'नीलदर्पण' पहले से ही प्रसिद्ध है। फिर भी इस प्रदर्शन से 'नीलदर्पण' को

1. ब्रजेन्द्रनाथ बंद्योपाध्याय द्वारा लिखित 'बंगीय नाट्यशालार इतिहास', पृ० 82-83.

पुनर्जीवन प्राप्त हुआ।"[1] एक अन्य समाचार-पत्र ने उसे "राष्ट्रीय महत्त्व की एक घटना" कहा और 'एजुकेशनल गजेट' के 13 दिसंबर के अंक में कहा गया था कि "रंगमंच विशाल था और बुरा नहीं था।" सभी समाचार-पत्र अभिनय की उत्कृष्टता पर सहमत थे और अर्धेन्दु मुस्तफी के अभिनय का विशेष उल्लेख किया गया था, जिन्होंने न केवल गोलक वसु की मुख्य भूमिका की थी बल्कि चार अन्य भूमिकाएं भी की थीं, जिनमें सावित्री की स्त्री-भूमिका भी सम्मिलित थी। अपनी दूसरी प्रस्तुति के लिए नेशनल थिएटर ने दीनबंधु मित्र के सुखांत नाटक 'जमाई बारिक' को चुना, जिसका प्रदर्शन अगले शनिवार 14 दिसंबर को हुआ··· एक सप्ताह में एक प्रदर्शन का कार्यक्रम निश्चित किया गया था। अगले शनिवार के लिए 'नीलदर्पण' को फिर से प्रदर्शित करने का निर्णय किया गया।

दुबारा किया गया यह प्रदर्शन कुछ दिलचस्प है क्योंकि एक दिन पहले (20 दिसंबर, 1872) अंग्रेजी व्यापारी समुदाय के शक्तिशाली मुखपत्र 'दि इंग्लिशमैन' ने छिपी हुई धमकी दी थी और लिखा था : "एक देशी समाचार-पत्र हमें बताता है कि नाटक 'नीलदर्पण' शीघ्र ही जोड़ासांकों के 'नेशनल थिएटर' में अभिनीत होने जा रहा है। इस बात पर विचार करते हुए कि रेवरेंड मिस्टर लांग को इस नाटक का अनुवाद करने के कारण एक महीने का कारावास भुगतना पड़ा था, क्योंकि उसे उच्च न्यायालय ने यूरोपीय लोगों का निंदा लेख माना था, यह बात अजीब-सी लगती है कि शासन कलकत्ता में उसकी पुन: प्रस्तुति की अनुमति दे।"[3] किंतु चेतावनी के बावजूद टिकटें खरीदने के लिए बेशुमार लोग आए और कई लोगों को निराश लौटा देना पड़ा। सार्वजनिक रंगशाला की स्थापना का विचार स्पष्टत: जड़ जमा चुका था।

तथापि, नेशनल थिएटर बहुत समय तक नहीं चला। इसमें उसके अस्तित्व का प्रथम चरण 8 मार्च, 1873 का अंतिम प्रदर्शन था, जब मधुसूदन दत्त का नाटक 'कृष्णाकुमारी' प्रदर्शित किया गया, जिसमें गिरीश घोष ने जो इस बीच इस समूह में सम्मिलित हो गए थे, भीम सिंह की भूमिका की। जिन छोटे-मोटे बखेड़ों के कारण वह बंद हुआ वे अपने आप में महत्वहीन हैं। किंतु यह तथ्य उल्लेखनीय है कि आधारभूत रूप से वे कतिपय लक्षणों के प्रतीक थे—अहंवादी व्यक्तिवाद, ईर्ष्या तथा चुगलखोरी, मिलजुल कर काम करने की अयोग्यता—जो कि बंगला रंगमंच का अभिशाप रहे हैं और आज भी हैं।

नेशनल थिएटर के अलग हो गए समूह ने, जिसके नेता अर्धेन्दु मुस्तफी थे,

1. वही, पृ० 87-89.
2. वही, पृ० 89.
3. वही, पृ० 93.

अपना नाम 'हिन्दू नेशनल थिएटर' रखा और लिंडसे स्ट्रीट की भूतपूर्व अंग्रेजी नाट्यशाला आपेरा हाउस को किराए पर लिया। वहां उसने 5 अप्रैल, 1873 को मधुसूदन दत्त के पद्य नाटक 'शर्मिष्ठा' का प्रदर्शन किया। टिकटों की विज्ञापित दरें प्रायवेट बाक्स के लिए 20 रु० से लेकर पिट में एक स्थान के लिए 2 रु० तक थीं। यह प्रयास अंशत:, संभवतः इसलिए सफल नहीं हुआ क्योंकि टिकटों की दरें ऊंची थीं और अंशत: इसलिए क्योंकि आपेरा हाउस की स्थिति उपयुक्त नहीं थी। शीघ्र ही हिन्दू नेशनल थिएटर ने वह स्थान छोड़ दिया और वह जिलों का दौरा करने लगा।

दूसरा समूह, जिसके नेता गिरीश घोष थे, निष्क्रिय नहीं बना रहा। उसने उत्तर कलकत्ता के शोधा बाजार में राधाकांत देव के घर के चौखूंटे आंगन में निर्मित एक रंगमंच पर 'नीलदर्पण', 'सधाबर एकादशी' तथा अन्य नाटकों का प्रदर्शन किया। वह मुख्यत: दीनबंधु मित्र तथा मधुसूदन दत्त के नाटकों पर निर्भर रहा। नाटक कितने लोकप्रिय हुए, यह तथ्य उसी 'इंग्लिशमैन' की, जिसने इसके पहले 'देशी लोगों' को चेतावनी दी थी कि वे 'नीलदर्पण का प्रदर्शन न करें', एक टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है। 19 अप्रैल, 1873 के अंक में उसने लिखा था : "हमें ऐसी जानकारी मिली है कि इस नाटक (नीलदर्पण) का एक विशेष प्रदर्शन, अनेक यूरोपीय लोगों द्वारा उसे देखने के लिए अभिव्यक्त की गई इच्छा को पूरा करने के लिए आज रात्रि को नेशनल थिएटर में होगा। बंगालियों में अभिनय कला के प्रदर्शन की जो वस्तुत: सहजगोचर प्रतिभा है वह इस नाटक में जितनी अच्छी तरह से देखी जा सकती है उतनी अन्यत्र नहीं देखी जा सकती।"[1]

इस बीच नए समूहों का प्रादुर्भाव हो चुका था। बंगाल थिएटर ने, जिसके निर्माण में मधुसूदन दत्त ने सक्रिय रुचि ली थी, बीडन स्ट्रीट में एक रंगमंच और एक साधारण दर्शक गृह का निर्माण किया। किंतु, 16 अगस्त, 1873 को उसका आरंभ होने के पूर्व मधुसूदन की मृत्यु हो गई। मधुसूदन का नाटक 'शर्मिष्ठा' उसका पहला नाटक था और मधुसूदन के निर्धन बच्चों के लाभार्थ प्रदर्शित किया गया था। बंगाल थिएटर एक अन्य कारण से उल्लेखनीय है। उसने स्त्रियों से स्त्री-भूमिकाएं करवाकर इतिहास का निर्माण किया। इसका भीषण विरोध हुआ, जो कि होना ही था। 'हिन्दू पेट्रियट' ने इस घटना का संवाद इस प्रकार दिया था : "अभिनेताओं ने अपनी भूमिकाओं को भलीभांति निबाहा। दो अभिनेत्रियां जिनके बारे में हमें जानकारी मिली है कि वे पेशेवर औरतें हैं, सर्वाधिक सफल रहीं। नाटक मंडली ने अभिनेत्रियों को न लिया होता तो अच्छा होता।" इस प्रकार आपत्ति नैतिक आधारों पर थी, न कि कलात्मक आधारों

1. वही, पृ० 124.

पर। उस काल के सामाजिक अभिमत से वातावरण को देखते हुए बंगाल थिएटर के लिए यह साहसिक बात थी कि उसने ऐसी स्त्रियों से भूमिका करायी जिन्हें प्रशंसा के बहाने 'पेशेवर औरतें' कहा गया। किंतु शीघ्र ही अन्य रंगशालाओं ने इसका अनुकरण किया और पुरुषों द्वारा स्त्रियों की भूमिकाओं के अभिनीत किए जाने की प्रथा चुपचाप छोड़ दी गई।

इस बीच प्रश्रय का सामाजिक आधार बदल चुका था। धनी प्रश्रयदातागण सहायता देते रहे किंतु अब नाट्यशालाओं के मालिक और अभिनेतागण वित्तीय और कलात्मक दोनों ही प्रकार के समर्थन के लिए नौकरीपेशा लोगों, दूकानदारों, महाजनों, सफेदपोश लोगों, वकीलों, डाक्टरों और शिक्षकों पर निर्भर रहते थे। किंतु भले ही कलकत्ता के भद्र समाज ने वेश्यालयों से अभिनेत्रियों के रूप में स्त्रियों के लिए जाने की बात स्वीकार कर ली थी, फिर भी वह रंगमंच से संबद्ध लोगों को ओछा मानता था। प्रदर्शनों की बेझिझक प्रशंसा की जाती थी, भद्र वर्ग के लोगों की भीड़ इकट्ठा हुआ करती थी और अभिनेताओं को सराहा जाता था। रंगमंच के प्रति लोगों के उत्साह में निष्ठा-विहीनता नहीं थी। फिर भी रंगमंच के लोगों को बड़ी आसानी से 'खराब चरित्र वाले' कहकर निंदित किया जाता था। दुर्भाग्यवश, उन आरंभिक वर्षों में अभिनेताओं में जो शराबखोरी की आदत थी और प्रबंधकों में जो स्वैराचार था उसके कारण लोगों की यह धारणा दूर न हो सकी। सर्वोपरि, वेश्याओं से संबद्ध होने के कारण बंगला रंगमंच पर जो कलंक लगा उसके मिटने में बहुत समय लगा। जब पिछले विश्व-युद्ध के बाद सामाजिक वातावरण बदला और इस शताब्दी के छठे दशक में नई शक्तियां प्रबल हुईं, तब कहीं जाकर यह सामाजिक कलंक दूर हुआ।

पिछली शताब्दी के संपूर्ण आठवें दशक के दौरान नए नाट्य समूहों का निर्माण होता रहा। उनमें से अनेक को बंगला रंगमंच के इतिहास में यथायोग्य सम्मानजनक स्थान मिला। उनके मार्गदर्शी कार्य के कारण ही कलकत्ता में रंगमंच की जड़ जम पाई। उनमें से कुछ ने कुछ अधिक कार्य किया और वे रंगमंच को कलकत्ता के बाहर के स्थानों में ले जाने में सहायक हुए।

कलकत्ता सदैव बंगला रंगमंच का केंद्रक रहा है। उसका जन्म वहां हुआ और वह अपनी विद्यमान ऊंचाई तक बढ़ा। किंतु धीरे-धीरे वह बंगाल के अन्य नगरों में और उनसे भी परे, विशेषतः उत्तर भारत के नगरों तक फैला, जहां पिछली शताब्दी के द्वितीयार्द्ध तक बंगाली लोग वकीलों, डाक्टरों तथा शिक्षकों के रूप में काफी तादाद में बस गए थे। कलकत्ता के कुछ नाट्य समूह नाटक प्रदर्शन के लिए वहां जाते थे। ऐसे दौरे बारंबार नहीं हुआ करते थे और कुछ वर्षों में यह सिलसिला छोड़ दिया गया। किंतु उन्होंने रंगशाला की मांग के निर्माण में अवश्य सहायता पहुंचाई। शीघ्र ही, व्यापार या अन्य कारणों से

कलकत्ता आने वाले लोग—व्यापारी, मुकदमों के सिलसिले में आने वाले लोग, तीर्थयात्री तथा नौकरी ढूंढ़ने वाले लोग—धंधे के साथ आनंदानुभूति के लिए रंगशालाओं में भीड़ करने लगे। आज भी यह सिलसिला जारी है। बाहर से आने वाले लोगों से आज कलकत्ता के रंगमंच को जो प्रश्रय मिलता है वह आश्चर्यजनक रूप से विशाल है। इसका बंगला रंगमंच के रूप और विषय-वस्तु पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा था। कलकत्ता के वाणिज्यिक रंगमंच के प्रश्रयदाताओं की गणना में 'मुफस्सिल' और 'ग्रामीण इलाके' के दर्शक सदैव उपस्थित रहे हैं।

नाटक मंडलियों के देशाटन पर विचार करने पर हम यह पाते हैं कि ऐसे दौरों में से सबसे सफल और सबसे बड़ा दौरा ग्रेट नेशनल थिएटर ने सन् 1875 में किया था। उस वर्ष के मार्च-अप्रैल में उसने दिल्ली, लाहौर, मेरठ, आगरा तथा लखनऊ का दौरा किया। विनोदिनी दासी ने, जो इस मंडली में शामिल थीं, एक साप्ताहिक पत्रिका के लिए लिखे गए आत्मकथात्मक लेखों की शृंखला 'अमर अभिनेत्री जीवन' में इस दौरे का चित्ताकर्षक वृत्तांत दिया है। उन्होंने लिखा है कि दिल्ली में हुए सात या आठ प्रदर्शनों में बहुत कम दर्शक आए। लाहौर अधिक अनुकूल था और वहां अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों का हार्दिक स्वागत-सत्कार हुआ। तथापि, वे लिखती हैं कि, उत्तर भारतीय नगरों के दर्शक 'अभिनय' वाले नाटकों को पसंद नहीं करते बल्कि संगीत-नाटकों को पसंद करते हैं। पौराणिक नाटक 'सती कलंकिनी' में राधिका की अपनी भूमिका में लाहौर में उन्होंने रोमांचक सफलता प्राप्त की। एक अमीर जमींदार राजा गुलाब सिंह ने उनसे विवाह करने की इच्छा व्यक्त की और उन्हें वचन दिया कि वे उन्हें "वैवाहिक स्थिति की सम्माननीयता" देंगे और उनकी माता को, जो कि उनके साथ थीं, 'ढेर सारा धन' देंगे लखनऊ में स्थिति ने एक घिनौना रूप ले लिया। चुना गया नाटक था 'नीलदर्पण'। जो कुछ हुआ वह विनोदिनी के ही शब्दों में इस प्रकार है : "नाटक-घर भरा हुआ था। अंग्रेज अधिकारियों, साहब लोगों और मेम-साहिबों की संख्या बहुत अधिक थी। सामने की ओर देखने पर केवल लाल-लाल चेहरे ही दिखाई देते थे। बंगालियों की संख्या बहुत कम थी।

" किसी तरह नाटक आरंभ हुआ। कार्यक्रम संबंधी टिप्पणी अंग्रेजी भाषा में छापी गई थी और उसके साथ कथा की संक्षिप्त रूपरेखा भी दी गई थी। पहले-पहल तो हम लोग बेचैन थे और डरे हुए थे। किंतु जैसे-जैसे नाटक आगे बढ़ता गया यह भावना जाती रही और हम लोग उत्साहपूर्वक अभिनय करने लगे।

"वह दृश्य आया जिसमें रोग साहब क्षेत्रमणि को सताता है और क्षेत्रमणि अपनी रक्षा के लिए दुहाई देती है 'साहब, आप मेरे पिता हैं, मेहरबानी कीजिए—मुझे जाने दीजिए'''।' फिर तोरप आता है और रोग का गला पकड़कर उसे ठोकरें मारने लगता है। जैसे ही यह हुआ वैसे ही यूरोपीय दर्शकों में सनसनी

फैल गई। वे उत्तेजित हो उठे और फुटलाइटों के पास जमा हो गए। कुछ लाल मुंह वाले सैनिकों ने अपनी तलवारें निकाल लीं और मंच पर चढ़ आए। दूसरों ने उन्हें पीछे खींचे रखना चाहा। ओह ! कितनी उत्तेजना फैली हुई थी। कितनी भगदड़ मची हुई थी। फौरन परदा गिरा दिया गया। मैंने तो सोचा कि वे बेशक हमारे सिर काट लेंगे।

"किस तरह से कुछ साहब लोग तो चले गए किंतु फिर भी शेष साहब लोग, जो कि अब भी गुस्से में थे, मंच पर थे। इसी बीच मजिस्ट्रेट ने किले से सैनिकों की एक कंपनी बुलवा भेजी थी। जब सैनिक आ पहुंचे तो मामला ठंडा पड़ा। मजिस्ट्रेट साहब ने नाटक का प्रदर्शन रोक दिया और पूछा कि प्रबंधक कहां है। हर कोई धर्मदास बाबू को खोजने लगा, किन्तु वे न मिले। बहुत देर तक तलाश करने के बाद वे मंच के नीचे बेजान से बैठे हुए पाए गए। कार्तिक पाल उन्हें खींचने लगे किंतु वे टस से मस नहीं हुए। इसलिए सहायक प्रबंधक अविनाश बसु अर्धेन्दु बाबू को लेकर मजिस्ट्रेट से मिलने गए। मजिस्ट्रेट ने कहा : 'यहां के कार्यक्रम रद्द कर दीजिए। मैं आपको पुलिस संरक्षण दे रहा हूं। स्त्रियों को जाने दीजिए। रात के लिए एक पुलिस गार्ड रहेगा। यूरोपीय लोग बेहद बौखलाए हुए हैं। बेहतर हो कि आप लोग लखनऊ छोड़ दें।' उसके बाद मंडली की स्त्रियां हमारे बोर्डिंग हाउस के लिए चल पड़ीं। अनेक अभिनेता हमारे पीछे आए। दृश्यों, वस्त्रों आदि सभी वस्तुओं को पुलिस की हिफाजत में छोड़ दिया गया।"[1]

सन् 1872 में हुए प्रथम सार्वजनिक प्रदर्शन के बाद के दशकों में बंगला रंगमंच की प्रगति काफी तेज रही। शताब्दी के अंत तक स्थायी नाट्यशालाओं का निर्माण हो चुका था। पूरे वर्ष सप्ताह में तीन दिन नाटकों का प्रदर्शन करने की परपाटी स्थापित हुई और स्वामित्व, नियंत्रण तथा प्रबंध का कतिपय प्रतिरूप निश्चित हुआ। कट्टर नैतिकतावादियों का प्रतिरोध तिरोहित हो गया और फुटलाइटों के सामने अभिनय करने वाले लोगों के संबंध में और उनके अभिनय के बारे में फलते-फूलते शहर के धनी और मध्यमवर्गीय बंगाली परिवारों में बहुधा चर्चाएं हुआ करती थीं।

नेशनल थिएटर के विभाजन के बाद के काल में अनेक नए समूहों का प्रादुर्भाव हुआ किंतु नए नामों की बहुलता भ्रामक हो सकती थी। किसी नई रंगशाला या किसी नए समूह का अर्थ बहुधा नाटकों या प्रस्तुतियों में कोई 'नवीनता' होने के बजाय अभिनेताओं, प्रबंधकों, मालिकों या किरायेदारों का कोई नया संयोजन हुआ करता था। गिरीश घोष, अर्धेन्दु मुस्तफी, महेन्द्रलाल बसु, धर्मदास सूर, अमृतलाल बसु या अमरेंद्रदत्त जैसे प्रमुख अभिनेताओं और रंगमंच की विभूतियों

1. अनुवाद।

ने किसी-न-किसी समूह से अकेले या दूसरों के साथ मिल-जुलकर नाता तोड़ा और कोई दूसरा समूह बनाया या किसी दूसरे समूह में सम्मिलित हो गए। उन सभी के पास नाटकों का वही संग्रह था, वही या वैसी ही समस्याएं थीं और समस्याओं के प्रति वही प्रतिक्रियाएं थीं। उनके मतभेद सतही थे, और अभिनेताओं की विभिन्न अभिनय-शैलियों पर विस्तारपूर्वक टीका-टिप्पणी और चर्चा की जाती थी। किंतु सारतः प्रस्तुतियां अविभेद्य थीं। जो परिवर्तन और जो विकास हुआ वह समग्र रंगमंच से संबद्ध था, भले ही किसी विशिष्ट समूह या किसी विशिष्ट उपक्रम से तात्कालिक कारण मिला हो।

एक ऐसा उपक्रम बंगाल थिएटर द्वारा उत्तर कलकत्ता में, जहां अब बीडन स्ट्रीट डाकघर है, एक स्थायी नाट्यशाला का निर्माण था। उस पर लगभग 5,000 रु० का खर्च आया, जो कि सन् 1873 में मामूली रकम नहीं थी। इस उपक्रम के पीछे शरत्चन्द्र घोष का हाथ था, जो एक प्रतिभावान अभिनेता और संगीतज्ञ थे। वे एक धनी जमींदार परिवार के थे और घोड़ों के शौकीन थे। बंकिमचंद्र चटर्जी की ऐतिहासिक रोमानी कृति 'दुर्गेशनंदिनी' के नाट्य रूपांतरण में जगतसिंह की भूमिका में वे रंगमंच पर घोड़े पर सवार होकर प्रवेश किया करते थे और दर्शकगण तालियां बजाकर उनका स्वागत किया करते थे। सन् 1876 में इस नाट्यशाला का आकार बढ़ाकर उसका पुनर्निर्माण किया गया। उसका गौरवपूर्ण क्षण तब आया जब भारत के वाइसराय तथा गवर्नर जनरल उसका एक नाटक देखने पधारे। जैसा कि 'दि इंग्लिशमैन' के 21 जनवरी, 1873 में प्रकाशित हुआ था, "महामहिम लार्ड तथा लेडी लिटन और सर रिचर्ड टेम्पल अपने-अपने अनुचरों के साथ इस रंगशाला में पधारे और उन्होंने "शकुंतला' नाटक देखा। हमारे विचार से यह पहला अवसर है जब कोई वाइसराय किसी देशी रंगशाला में पधारे हों।"[1] बंगाल थिएटर सन् 1901 तक चलता रहा। किंतु उसके अंततः बंद हो जाने के अनेक वर्ष पूर्व ही, जब उसे ब्रिटिश शासकों के प्रति उसकी सुदृढ़ राजनिष्ठा के कारण रानी विक्टोरिया के पति के सम्मुख, जो कि सन् 1890 में भारत पधारे थे, नाटक प्रदर्शन के लिए आमंत्रित कर पुरस्कृत किया गया था, वह स्वयं को रायल बंगाल थिएटर कहने लगा था।

इस काल की सर्वाधिक लोकप्रिय रंगशाला 'ग्रेट नेशनल थिएटर' थी। उस काल के बहुचर्चित अभिनेता-अभिनेत्रियां इससे संबद्ध थे। समाचार-पत्रों में इस मंडली की प्रस्तुतियों की सर्वाधिक विस्तृत सूचनाएं प्रकाशित हुआ करती थीं। बंगाल थिएटर से अलग हुए बिना इसने सितंबर, 1873 में उसी बस्ती में एक स्थल पर एक नाट्यशाला की नींव डाली। आगे चलकर उस वर्ष एक रात को

1 शिशिर बसु द्वारा लिखित 'इकशो बच्छरेर बाँगला थिएटर', पृ० 44.

इसमें आग लग गई और उसे बंद कर देना पड़ा। इस मंडली ने विचलित न होते हुए नाट्यशाला का पुनर्निर्माण किया और काफी नियमित अंतरावधियों में एक के बाद एक अनेक नाटक प्रदर्शित किए।

दर्शक पाने के लिए विभिन्न मंडलियों में जो प्रतिस्पर्धा चला करती थी उसकी मनोरंजक जानकारी समाचार-पत्रों में प्रकाशित विभिन्न मंडलियों के विज्ञापनों से मिलती है। यदि बंगाल थिएटर का कोई अभिनेता रंगमंच पर घोड़े पर सवार होकर आता तो ग्रेट नेशनल थिएटर उससे भी बढ़-चढ़कर था। 'अमृत बाजार पत्रिका' के 25 दिसंबर 1875 के अंक में प्रकाशित उसके विज्ञापन में यह दावा किया गया था कि नाटक 'हीरक चूर्ण नाटक' केवल 'राष्ट्रीय रुचि' का नाटक ही नहीं है बल्कि उसमें 'रंगमंच पर एक रेलगाड़ी' भी होगी। तथापि, ग्रेट नेशनल थिएटर इन कौतुकों से हटकर भी एक बात के लिए अधिक स्मरणीय है। वह भारत में कलाओं की सेंसरी का पहला कानून लाने का निमित्त बना। इसके पीछे एक कहानी है।

जनवरी, 1876 में प्रिंस आफ वेल्स भारत आए। एक बड़े वकील ने अपने घर पर उनका स्वागत-सत्कार किया, जहां घर की महिलाओं ने प्रिंस का स्वागत पारंपरिक भारतीय शैली में किया। इससे बुद्धिजीवियों के एक वर्ग में बड़ा रोष फैला, जिन्हें इस बात पर आपत्ति थी कि कोई बाहरी आदमी और वह भी कोई विदेशी आदमी घर की महिलाओं को 'देखे' भले ही वह व्यक्ति, जो कि महिलाओं को देख रहा था, भावी सम्राट था। उस वकील द्वारा हिन्दू आचरण संहिता के इस उल्लंघन से समाचार-पत्रों के स्तंभों में एक मनोरंजक वादविवाद का सिलसिला चल पड़ा। ग्रेट नेशनल थिएटर ने, जो कि किसी भी उत्तेजनापूर्ण स्थिति से लाभ उठाने के लिए हमेशा कमर कसे रहता था, 'गजदनंद एंड दि प्रिंस' नामक एक प्रहसन प्रस्तुत किया। अंग्रेज शासक यह कतई बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि सम्राट की निष्ठावान प्रजा का किसी सार्वजनिक प्रदर्शन में मखौल उड़ाया जाए। पुलिस ने दूसरे प्रदर्शन को रोक दिया और वाइसराय लार्ड नार्थब्रुक ने 29 फरवरी को एक अध्यादेश जारी किया जिसमें "बंगाल शासन को कतिपय ऐसे नाट्य प्रदर्शनों को, जो कि अपमाजनक, निंदाजनक, राजद्रोहजनक, अश्लील या अन्यथा लोक हित के प्रतिकूल हों" प्रतिबंधित करने की शक्ति दी गई थी।

ग्रेट नेशनल थिएटर ने अगले ही दिन 'दि पुलिस आफ पिग एंड शीप' नामक एक दूसरा नाटक प्रस्तुत कर इस अध्यादेश का प्रत्युत्तर दिया। ऐसा करना निश्चय ही मुसीबत को न्यौता देना था। 4 मार्च 1876 को पुलिस के डिप्टी कमिश्नर ने प्रदर्शन को आधे में ही रोक दिया और आठ अभिनेताओं को गिरफ्तार कर लिया, जिनमें नाटककार अभिनेता अमृतलाल बसु तथा निदेशक उपेंद्रनाथ दास सम्मिलित थे। उनके विरुद्ध यह आरोप लगाया गया कि प्रहसन के साथ प्रदर्शित

दूसरा नाटक निंदाजनक और अश्लील था। विचारण करने वाले मजिस्ट्रेट ने बसु तथा दास को एक महीने की सादी कैद की सजा सुनाई। उच्च न्यायालय में अपील की गई जिसने यह फैसला सुनाया कि प्रश्नाधीन नाटक 'सुरेन्द्र विनोदिनी' अश्लील नहीं था।

तथापि, आगे चलकर उस वर्ष ड्रामाटिक पर्फार्मेंसेस एक्ट, 1876 अधिनियमित हुआ। 'अमृत बाजार पत्रिका' ने एक जोशीले संपादकीय लेख में गर्जना की : "भारतीय लोग इंग्लैंड के बादशाह के आदेशों के आगे अधिक समय तक सिर झुकाए नहीं रह सकते।" इस अधिनियम का तात्कालिक निमित्त नाट्य प्रदर्शनों का फूहड़पन और अश्लीलता था। किन्तु वास्तविक लक्ष्य उन नाटकों को रोकना था जो कि विदेशी कुशासन की पोल खोलते थे। इस अधिनियम के अधीन जिन नाटकों के प्रदर्शनों पर बंदिश लगाई गई थी उन्हें देखने से यह बात उजागर हो जाती है। उनमें से अधिकांश नाटकों और प्रदर्शनों को इसलिए आपत्तिजनक पाया गया था क्योंकि उनमें राष्ट्रवाद का प्रचार किया गया था। इन नाटकों की सूची में गिरीश घोष, डी०एल० राय, के०पी० विद्याबिनोद तथा अन्य लेखकों के नाटक सम्मिलित हैं। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि न केवल अंग्रेज शासकों ने बल्कि स्वतंत्र भारत के उनके उत्तराधिकारी शासनों ने भी इस अधिनियम का उपयोग नाट्य प्रदर्शनों में अभिव्यक्त होने वाली राजनैतिक असहमति को दबाने के लिए किया है। सन् 1954 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने इस अधिनियम को संविधान के प्रतिकूल मानकर अमान्य कर दिया। कई वर्षों बाद पश्चिम बंगाल शासन ने इस प्रयोजन के लिए नया विधान बनाने का प्रस्ताव किया। किंतु जनता के विरोध के कारण प्रस्ताव वापस ले लिया गया। जहां तक ग्रेट नेशनल थिएटर का संबंध है, उसने नई परिस्थिति से समझौता कर लिया और उसके बाद वह सुरक्षित, पौराणिक नाटक प्रदर्शित करने लगा। उसके बाद उसके अच्छे दिन जाते रहे। गिरीश घोष ने उसका भार सम्हाला किंतु वे उसे अच्छी तरह से न चला सके। उसके बाद किराएदार मालिकों का एक सिलसिला चल पड़ा जो कि उसे इंद्रिय सुख के लिए अच्छा शिकारगाह मानते थे। अधिक उद्दंड और दुश्चरित्र ऐयाश तो 'कप्तान' कहे जाने लगे। 'कप्तानी' का दावा मुख्यत: वही कर सकता था जिसमें शराबखोरी और वेश्यागमन की अधिक योग्यता थी।

इस स्थिति में सुधार तब हुआ जब एक राजस्थानी व्यापारी ने इस रंगशाला का कारोबार सम्हाला। यह पहला अवसर था जब रंगशाला पर खर्च किया गया धन किसी कारोबार में लगाया गया धन समझा गया। नए मालिक ने कुछ अनुशासन रखना शुरू किया और गिरीश घोष को, जो किसी व्यापारिक फर्म में

क्लर्की किया करते थे, अपनी नौकरी छोड़ देने और रंगशाला को पूर्णकालिक व्यवसाय मानकर उसमें आने और उसे एक वाणिज्यिक व्यवसाय के रूप में चलाने के लिए राजी करके व्यावसायीकरण के आरंभ का सूत्रपात किया। चाहे अच्छा हुआ हो या बुरा, बहरहाल बंगला रंगमंच वाणिज्यिकता के दौर में प्रवेश कर चुका था।

4

वाणिज्यिक रंगमंच की वृद्धि

दो नाम, जो कि वाणिज्यिक बंगला रंगमंच के उदय और सुदृढ़ीकरण के प्रतीक हैं, 'स्टार' और 'मिनर्वा' हैं। स्टार की स्थापना सन् 1883 में अभिनेताओं की उस मंडली द्वारा की गई थी जिसके नेता गिरीश घोष थे। इस नाट्यशाला के निर्माण के लिए विशेषत: विनोदिनी दासी के कहने पर, एक अन्य राजस्थानी व्यापारी ने धन दिया था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने मर्मस्पर्शी वृत्तांत दिया है कि किस प्रकार उन्होंने इस रंगशाला के निर्माण में अथक कार्य किया। उन्होंने बीडन स्ट्रीट पर स्थित भूखंड को प्राप्त करने में सहायता पहुंचाई और गुरुमुख राय को उसका खर्च उठाने के लिए राजी किया। उनके ही शब्दों में : "जब निर्माण-कार्य आरंभ हुआ तो हम बहुत पुलकित और प्रसन्न हुए। उस समय हम पूर्वाभ्यास के लिए दोपहर के 2 या 3 बजे जुटा करते थे। पूर्वाभ्यास के बाद हम निर्माण-स्थल पर जाते थे। उसके बाद जब अधिकांश लोग चले जाते थे तब मैं स्वयं मिट्टी की बाल्टियां उठाती थी और पिट और पिछवाड़े की बैठकों के खुदे हुए स्थान को मिट्टी से भरती थी। मजदूरों को मिट्टी की प्रत्येक अतिरिक्त बाल्टी के लिए मैं थोड़े-बहुत पैसे दे देती थी ताकि वे फुर्ती से काम करें। इस तरह मैं रात तक काम करती रहती थी। तब तक हर कोई जा चुका होता था। केवल गुरुमुख बाबू, मैं और एक-दो अन्य लोग बच रहते थे।"[1]

नई नाट्यशाला का शुभारंभ जुलाई 1883 में, गिरीश घोष के एक पौराणिक नाटक से हुआ। इसके प्रदर्शन से यह नाट्यशाला प्रसिद्धि और लोकप्रियता में दूसरी नाट्यशालाओं से आगे बढ़ गई। तथापि जब चार वर्ष बाद एक धनी जमींदार ने 'स्टार' को खरीद लिया तो उन अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का दल जिन्होंने 'स्टार' को अग्रणी रंगशाला बना दिया था, उसे छोड़कर चला गया। उन्होंने रकम जुटाई और उस स्थल पर, जहां कि अब स्टार थिएटर है, एक नई नाट्यशाला का निर्माण किया। उसके बाद नौ से भी अधिक दशकों तक कई मालिक बदले किंतु आज तक स्टार थिएटर ने वाणिज्यिक बंगला रंगमंच की

1. अनुवाद।

आत्मा और परंपरा को जिस प्रकार से जीवित रखा है वैसा किसी भी अन्य रंगशाला ने नहीं रखा। बीडन स्ट्रीट पर स्थित पुरानी नाट्यशाला के नाम-फलक पर, शिशिर भादुड़ी द्वारा उसका कारोबार सम्हाले जाने के पूर्व, पहले तो 'इमेराल्ड' का नाम आया, उसके बाद 'क्लासिक' का और फिर 'मनमोहन' का। किंतु यह दशकों बाद की बात है। अंततः एक सड़क के लिए रास्ता बनाने के लिए जिसे आज चितरंजन एवेन्यू कहा जाता है, यह नाट्यशाला गिरा दी गई।

एक अन्य नाट्यशाला, जिसने बंगला रंगमंच के सुदृढ़ीकरण में योगदान दिया और जो आज भी विद्यमान है, 'मिनर्वा' नाट्यशाला थी। अक्तूबर 1883 में नेशनल थिएटर के बंद हो जाने पर भुबन मोहन नियोगी ने इस नाट्यशाला को किराए पर लिया और कुछ नाटकों का प्रदर्शन किया। शीघ्र ही किराएदार मुकदमेबाजी में उलझ गया और संपत्ति की नीलामी हो गई। 'स्टार थिएटर' के मालिकों ने इसे खरीद लिया और पुराने जर्जर ढांचे को गिरा दिया। कुछ वर्षों बाद वहां 'मिनर्वा थिएटर' का निर्माण हुआ, जिसके लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्थापक फैलो प्रसन्न कुमार टैगोर के एक पौत्र ने धन दिया था। एक बार फिर से गिरीश घोष के पास पहुंचा गया और वे सहयोग देने के लिए राजी हो गए। इस नई रंगशाला का शुभारंभ 28 जनवरी, 1893 को 'मैकबेथ' के प्रदर्शन के साथ हुआ, जिसका अनुवाद स्वयं गिरीश घोष ने किया था।

नाटक का चयन, प्रदर्शन की प्रशंसा तथा जनता के समर्थन का अभाव आदि बातें उन समस्याओं को कुछ-कुछ स्पष्ट करती हैं, जोकि वाणिज्यिक रंगशाला के अग्रणियों के सम्मुख थीं। गिरीश घोष शेक्सपीयर के उपासक थे। इस संबंध में वे उस काल के शिक्षित बंगाली व्यक्ति की अभिवृत्ति का ही परिचय देते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के एक सुविख्यात कवि ने तो अपनी एक कविता में यहां तक कह डाला कि कालिदास भारत के थे किंतु शेक्सपीयर संपूर्ण विश्व के थे। गिरीश घोष चाहते थे कि औसत नाटक-दर्शक शेक्सपीयर के नाटकों से परिचित हों और वे उसके अनेक दुःखांत नाटकों का प्रदर्शन करने की आशा रखते थे। किंतु जब जनता ने 'मैकबेथ' को निर्णायक रूप से अस्वीकार कर दिया तो उन्हें 'हैमलेट', 'ओथेल्लो' तथा 'किंग लीयर' नाटक प्रस्तुत करने का विचार त्याग देना पड़ा। उन्हें बहुत निराशा हुई। उन्होंने 'मैकबेथ' प्रस्तुत करने के लिए बड़ी मेहनत की थी। उन्होंने रूप-सज्जा और वेशभूषा के लिए एक अंग्रेज को और रंगा हुआ पीछे का परदा (बैक ड्राप) और रंगपट (सैट) तैयार करने के लिए एक दूसरे अंग्रेज को नियोजित किया था। उन्होंने अभिनेताओं को अभिनय सिखाने पर भी बहुत परिश्रम किया था।

शहर के शिक्षित भद्र वर्ग के लोग, जो शेक्सपीयर के नाटकों को ही जानते-मानते थे, उनके बेहद प्रशंसक थे। समाचार-पत्रों का भी यही हाल था। यहां

तक कि 'दि इंग्लिशमैन' ने भी अपने 8 फरवरी, 1893 के अंक में टिप्पणी की थी : "समग्रत: नाटक भली-भांति प्रस्तुत किया गया था। बंगला 'थेन आफ काउडर' विसंगति का एक जीवंत प्रमाण है किंतु वास्तविकता अंग्रेजी रंगमंच की मानक परिपाटी की विस्मयकर पुन: प्रस्तुति है।"[1] गिरीश घोष ने मैकबेथ का अभिनय किया और उनके साथ प्रतिभाशाली अभिनेताओं के एक दल ने अभिनय किया, जिसमें अर्धेन्दु मुस्तफी भी सम्मिलित थे, जो कि उस समय के बंगला रंगमंच के दूसरे जाने-माने अभिनेता थे। किंतु साधारण दर्शकों ने नाटक को पसंद नहीं किया और उसे केवल दस प्रदर्शनों के बाद रोक देना पड़ा। गिरीश घोष ने पश्चात्ताप के साथ कहा, "इसमें गीत और नृत्य नहीं हैं और साधारण लोग नाटक को समझ नहीं सकते।"[2] गिरीश घोष ने अपने अधिकांश नाटकों में यह त्रुटि न रखने की सावधानी बरती।

जैसा कि अन्य नाट्यशालाओं के बारे में हुआ था, मिनर्वा के स्वामित्व और प्रबंधकत्व में भी परिवर्तन हुए। अभिनेता उसे छोड़ गए और फिर से वापस आ गए; षड्यंत्रों, प्रतिद्वंद्विताओं और फसादों का सिलसिला चलता रहा। किंतु इन सभी बातों के बावजूद मिनर्वा अपनी स्वयं की एक परंपरा का निर्माण करने में सफल रही। अन्य नाट्यशालाओं की ही भांति आधारभूत रूप से वह विशिष्ट व्यक्तियों पर निर्भर थी। अनेक उल्लेखनीय अभिनेताओं, अभिनेत्रियों, नाटक-कारों और प्रश्रयदाताओं ने रंगशाला के विकास में अति उत्साह और निष्ठा के साथ योगदान दिया। गिरीश घोष विशेष उल्लेखनीय हैं, किंतु अर्धेन्दु मुस्तफी, अमरेंद्र दत्त, अमृतलाल मित्र तथा विनोदिनी दासी जैसे कुछ अन्य उल्लेखनीय व्यक्तियों ने भी बंगला रंगमंच के विकास में कम योगदान नहीं दिया। किंतु इसके पहले कि हम उनके योगदान पर चर्चा करें, 'स्टार' तथा 'मिनर्वा' को छोड़ अन्य नाट्यशालाओं के संबंध में चर्चा करना उचित होगा।

जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है, 'स्टार' बीडन स्ट्रीट पर स्थित उस नाट्यशाला से बहिष्कृत हो गई जहां पहले सन् 1883 में उसका आरंभ हुआ था। तथापि, धनी व्यक्ति गोपाल शील को, जिन्होंने सन् 1887 में नाट्यशाला को खरीदा था और 'स्टार' को बहिष्कृत कर दिया था, उसके गौरवशाली नाम का उपयोग करने का अधिकार नहीं दिया गया। उन्होंने पुराने नेशनल थिएटर के अधिकांश अभिनेताओं को इकट्ठा किया और अक्तूबर, 1887 में पांडवों के वन-वास पर लिखे गए एक नाटक के साथ 'इमेराल्ड' का शुभारंभ किया। उन्हें अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त अर्धेन्दु मुस्तफी का भी सहयोग मिला और उन्होंने इस

1. एच०एन० दासगुप्त द्वारा लिखित 'दि इंडियन स्टेज' ग्रंथ, खंड तीन, पृ० 115.
2. वही, पृ० 120.

नाट्यशाला को बढ़ाने के लिए बहुत सारा धन लगा दिया। उस समय घरेलू खपत के लिए बिजली उपलब्ध नहीं थी और नाटकों का प्रदर्शन गैसलाइट के उजाले में किया जाता था। गोपाल शील ने एक डायनेमो जेनरेटर लगाया और दर्शकगण, विशेषत: बिजली के उजाले में वेशभूषा को चमकता हुआ देखकर, बहुत हर्षित हुए। उन्होंने धमकी और ब्लैकमेल के जरिए गिरीश घोष का सहयोग तो प्राप्त कर लिया किंतु वे अर्धेन्दु मुस्तफी के सहयोग से हाथ धो बैठे। 'इमेराल्ड' कुछ समय तक फलती-फूलती रही। किंतु कुछ समय बाद और अभिनेताओं के अनेक बार बिखर जाने पर गोपाल शील ने यह नाट्यशाला दूसरों को किराए पर दे दी; इस पर गिरीश घोष ने उसे फौरन छोड़ दिया और वे 'स्टार' में चले गए। भाग्य की अनेक उथल-पुथलों के बाद अप्रैल, 1897 में इमेराल्ड बंद हो गई।

वह नया समूह, जिसने अब इस नाट्यशाला पर अधिकार कर लिया था, एक प्रकार से वस्तुत: 'नया' समूह था। वह अमरेंद्र दत्त की निर्मिति थी, जिनकी धनवत्तापूर्ण और विद्वत्तापूर्ण पारिवारिक पृष्ठभूमि रंगमंच के प्रति उनके उत्साह को और हर किसी जरिए से लोगों को अपनी ओर खींचकर प्रतिद्वंद्वी रंगशाला को मात देने के उनके संकल्प को कम न कर सकी।

उनके 'क्लासिक थिएटर' का शुभारंभ अप्रैल, 1897 में गिरीश घोष के एक नाटक के प्रदर्शन के साथ हुआ। उसके बाद जून में 'हरिराज' नाटक का प्रदर्शन हुआ जो कि हैमलेट का बंगला रूपांतरण था, जिसे जनता ने पसंद किया। इसके शीघ्र पश्चात अमरेंद्र दत्त ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक नाटक 'राजा ओ रानी' प्रदर्शित किया। इससे यह अनुमान नहीं निकाला जाना चाहिए कि वे औसत दर्शक की अभिरुचि को परिष्कृत करने के लक्ष्य से अभिप्रेरित थे। उनका व्यक्तित्व भव्य और रंगमंच के उपयुक्त था, उनकी आवाज गूंजती हुई थी, उनमें सहज अभिनय की क्षमता थी और उनमें दर्शकों के साथ स्वाभाविक तादात्म्य की क्षमता थी। इन सभी गुणों का उपयोग करते हुए वे किसी नाटक को इस प्रकार से प्रस्तुत करते थे कि दर्शकों को वह आकर्षक लगता था। तथापि, वे व्यावसायिक मनोवृत्ति के नहीं थे और भले ही क्लासिक थिएटर वहीं था, जहां कि लोग जाते थे, फिर भी अमरेंद्र दत्त की फिजूलखर्ची और बदइंतजामी के कारण इस रंगशाला का सन् 1906 में असामयिक अवसान हो गया।

एक धनी जमींदार शरतकुमार राय ने इस नाट्यशाला को 1,08,000 रु० में खरीदा; प्रबंधकों, अभिनेताओं, संगीतकारों तथा रंगमंच के कार्यकर्त्ताओं को नियोजित किया, नाटककारों से संपर्क साधा, भवन का नवीकरण किया तथा रंगशाला को 'कोहिनूर' नाम दिया। अगस्त, 1907 में क्षरोद प्रसाद विद्याविनोद के नाटक 'चांद बीबी' के प्रदर्शन से उसका शुभारंभ हुआ। इस उत्कृष्ट नाटककार से संविदात्मक अनुबंध करा लेना 'कोहिनूर' का सबसे बड़ा लाभ था।

कालांतर में गिरीश घोष, अर्धेन्दु मुस्तफी, चुन्नीलाल देव, तीन कौड़ी दासी तथा तारा सुन्दरी जैसे प्रमुख अभिनेता और अभिनेत्रियां, जिनकी स्थिति अब कुछ खराब हो गई थी और जो उसे छोड़कर चले गए थे, फिर से उसमें आ गए। जैसाकि होना था, मुकदमेबाजी हुई और 'कोहिनूर' रंगशाला सन् 1912 में एक धनी ठेकेदार मनमोहन पांडे को 1,11,000 रु० में बेच दी गई।

अन्य नाट्यशालाओं में बंगाल थिएटर, या रायल बंगाल थिएटर, जैसाकि वह आगे चलकर कहलाने लगा था, अपेक्षाकृत दीर्घजीवी रहा और सन् 1901 तक चलता रहा। उसकी संदिग्ध विशेषता यह थी कि उसने समय के साथ बदलने से अस्वीकार कर दिया। तथापि यह अस्वीकृति बिलकुल निराधार नहीं थी। उसके मालिकों ने आचरण के कतिपय सिद्धांतों की रक्षा के लिए ख्याति अर्जित की थी। वे अनुचित कलहों, षड्यंत्रों, अभिनेताओं-अभिनेत्रियों को अलग हो जाने के लिए भड़काने, दूसरी रंगशालाओं से अभिनेताओं-अभिनेत्रियों को छीन लाने जैसी बातों से दूर थे, जबकि ये बातें उस काल में आमतौर पर हुआ करती थीं। थोड़े समय के सिवाय उसके पास कोई जाना-माना अभिनेता नहीं था, किंतु वह जनता के कुछ वर्गों की निष्ठा बनाए रखने में सफल रहा। किंतु संभवतः वह पुराने नाटकों का प्रदर्शन करते हुए जीवित नहीं रह सकता था। सन् 1901 में उसके बंद हो जाने पर इस नाट्यशाला को किसी गुरुप्रसाद मैत्र ने किराए पर ले लिया। उनका अरोरा थिएटर डेढ़ वर्ष तक चला और उसके बाद 'यूनीक थिएटर' का प्रादुर्भाव हुआ, जोकि और भी कम समय तक चला। अगला किराएदार कोई अन्य नाम भी नहीं सोच पाया, और उसने उसे नेशनल थिएटर नाम दिया। वह 'कोहिनूर' और 'स्टार' की लोकप्रियता से प्रतिस्पर्धा न कर सका और उसने पहले तो निःशुल्क उपहार देकर दर्शकों को लुभाने की कोशिश की और बाद में टिकटों के दाम कम कर दिए। किसी भी बात से कोई लाभ नहीं हुआ। वह छह वर्षों तक ले-देकर चलता रहा और जनवरी, 1911 में बंद हो गया। इस नाट्यशाला की कहानी इस प्रकार समाप्त होती है कि अमरेंद्र दत्त ने उसे पट्टे पर लिया, भवन के नवीकरण पर बहुत सारा धन खर्च करने के लिए उसके मालिक अनाथ देव को समझाया-बुझाया, एक नई मंडली बनाई, उसे 'दि ग्रेट नेशनल' नाम दिया और स्वयं उसके प्रबंधक बने। उनका कारोबार अच्छा चल रहा था, किंतु छह महीनों से भी कम समय में, जब स्टार ने उन्हें आंशिक स्वत्वाधिकार देने की पेशकश की तो वे इस मंडली से अलग हो गए और फिर से 'स्टार' से जा मिले।

'स्टार' की बात पर लौटने पर हम यह पाते हैं कि जब वह मई, 1888 में कार्नवालिस स्ट्रीट के उसके वर्तमान स्थान पर निर्मित एक नई नाट्यशाला में फिर से काम करने लगा तो गिरीश घोष उसमें औपचारिक रूप से सम्मिलित नहीं हो सकते थे। किंतु उनकी प्रेरणा, वैचारिक सहायता, उनके धन और परि-

श्रम से ही नई रंगशाला का प्रादुर्भाव संभव हो सका। उनका हृदय 'स्टार' के साथ था और जैसे ही उन्हें 'इमेराल्ड' के साथ किए गए अनुबंध से मुक्त होने का अवसर मिला वैसे ही वे 'स्टार' में सम्मिलित हो गए। 'स्टार' के साथ उनका नवीकृत संबंध लगभग दस वर्षों तक चलता रहा और वह बहुत अधिक लाभजनक रहा। इस अवधि में उन्होंने अपने कुछ उत्तम नाटक लिखे। इस रंगशाला की नींव उन्होंने इतनी मजबूती से डाली थी कि भले ही वे उसे 1898 में छोड़ गए फिर भी 'स्टार' ने पीछे मुड़कर नहीं देखा।

एक अन्य नाट्यशाला का संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है। इसका निर्माण राजकृष्ण राय द्वारा बीडन स्ट्रीट की बस्ती से दूर किया गया था। किसी अभिनेता-नाटककार द्वारा अपने ही बलबूते पर किसी नाट्यशाला के निर्मित किए जाने का यह एकमात्र उदाहरण है। सन् 1887 में उल्लेखनीय व्यक्तिगत त्याग के जरिए उन्होंने 38, मछुआबाजार स्ट्रीट में अपनी 'बीना' रंगशाला का आरंभ किया। तब तक स्त्री भूमिकाओं के लिए स्त्रियों को नियोजित करने की प्रथा सामान्य हो गई थी। राजकृष्ण राय ने, जोकि कुछ-कुछ पुरातनपंथी थे, पुरुष अभिनेताओं से स्त्रियों की भूमिकाएं कराईं। लोगों ने उनके सिद्धांतों और उनके नाटकों को सराहा किंतु बहुत कम लोग उन्हें देखने गए। वे वित्तीय दृष्टि से बरबाद हो गए और उन्होंने कुछ ही महीनों में अपना हाथ खींच लिया। आगे चलकर वे एक समझदार और तजुर्बेकार व्यक्ति के रूप में वापस आए और उन्होंने उस रंगशाला का कारोबार सम्हाला जिसे उन्होंने निर्मित किया था। इस बार उन्होंने स्त्रियों की भूमिकाओं के लिए स्त्रियों को लिया और प्रवेश शुल्क हास्यास्पद और विनाशास्पद रूप से कम कर दिया। अंततः इस सीधे-सादे और अच्छे व्यक्ति को, जिसे नाटक और रंगमंच से गहरा प्रेम था, सन् 1891 में 'बीना' का स्वामित्व छोड़ देना पड़ा। उसके बाद नाट्यशाला के स्वामित्व में परिवर्तनों का जो सिलसिला चला उसमें कई नए नाम आए—दि इंडियन, दि बेट्टी, दि विक्टोरिया आपेरा आदि—और बाद में उसमें 'चलती-फिरती तसवीरें' दिखाई जाने लगीं, जोकि लगभग उस समय कलकत्ता में आविर्भूत हो रहा नया माध्यम था।

5

नाट्य साहित्य और नाटककार

वृद्धि का तर्कशास्त्र और सुस्थापित वाणिज्यिक आधार यह प्रकट करता था कि जनता की प्रसन्नता प्रधान विचारणीय विषय बन गई थी। इसमें आंतरिक रूप से तिरस्करणीय कुछ भी नहीं था। वस्तुत: कला या मनोरंजन के रूप में अस्तित्व में रहने की शर्त ही यह है कि नाटक दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करे और उनसे वह धन प्राप्त हो जो कि वे अपने संतोष के लिए दें। बंगला रंगमंच के विकास की इस प्राथमिक अवस्था में जो बात गलत थी वह यह थी कि दर्शकों की प्रतिक्रिया प्राप्त करने के लिए मामूली-से-मामूली दर्शक को लुभाने की जानबूझ-कर कोशिश की जाने लगी थी। नाटककारों ने भी सहयोग दिया। वे या तो धार्मिक अथवा पौराणिक कथाओं पर नाटक लिखते थे या ऐसे प्रहसन लिखते थे जिनमें शहर में पले-पोसे अंग्रेजी पढ़े-लिखे नए धनी बाबू का और उसके नैतिक दोषों का मखौल उड़ाया जाता था। दोनों ही स्थितियों में वे उन लोगों के पूर्वा-नुराग और पूर्वाग्रह को प्रतिबिंबित करते थे जो मूलत: ग्रामीण मनोवृत्ति के थे और जो अपनी यह मनोवृत्ति अपने साथ उस शहर में भी लिए हुए रहते थे जहां कि वे व्यापार करते थे, रोजी-रोटी कमाते थे, अंग्रेजी सीखते थे और संपत्ति अर्जित करते थे।

दो अन्य प्रकार के नाटक, जो कि लिखे जाते थे और अभिनीत किए जाते थे, संगीत-नाटक तथा 'सोद्देश्य' नाटक थे। सोद्देश्य नाटक किसी उद्देश्य को लेकर लिखे जाते थे या फिर किसी ऐसे विषय पर लिखे जाते थे जो कि उस क्षण जनता को उद्वेलित किए होता था। 'सोद्देश्य' नाटक शताब्दी के अंतिम दशक में, जब उनमें देशभक्तिपूर्ण तथा राष्ट्रवादपूर्ण विषय-वस्तुओं को लिया जाने लगा, कलात्मक दृष्टि से कुछ-कुछ उन्नत हो गए थे। अधिकांशत: वे भूतकाल की गरिमा का बखान करने वाले ऐतिहासिक रोमानी नाटकों के रूप में लिखे जाते थे। नाटकों का प्रकार चाहे जो भी हो, नाटककार टिकट खरीदनेवाले लोगों की सार्वभौमता को स्वीकार करते हुए अपने पात्रों को उस काल के लोकप्रिय अभि-नेताओं तथा अभिनेत्रियों की अभिनय-शैलियों तथा गायन-योग्यता के अनुरूप ढालने की सावधानी बरतते थे।

चाहे उस काल के रंगमंच के प्रति उनकी वशवर्तिता के कारण हो, या अन्य कालों या अन्य क्षेत्रों के प्रादर्शों का अनुकरण करने की उनकी प्रवणता के कारण हो या गुणवत्ता के स्पष्ट अभाव के कारण हो, इस अवधि के दौरान भारी संख्या में लिखे गए अधिकांश नाटक बंगला नाट्य साहित्य में स्थायी स्थान का दावा नहीं कर सकते। टैगोर के नाटकों और ज्योतीन्द्रनाथ टैगोर तथा गिरीश घोष के अच्छे नाटकों को छोड़ कोई अच्छे नाटक नहीं लिखे गए। उपन्यासों के विपरीत, बंगला नाटक जीवन और समाज की वास्तविकताओं से हट गए थे। वे धार्मिक भावात्मकता, ऐतिहासिक रोमांसवाद, अतिभावुकता, प्रहसनात्मक सुखांत नाटकों, भड़ैती और अश्लीलता के भंवर में फंस गए थे। जो नाटक स्पष्टतया 'सोद्देश्य' थे उनमें निवेदन सतही रूप से प्रासंगिक था। उनमें या उन अधिकांश प्रहसनों में, जिनका प्रिय लक्ष्य 'शिक्षित' महिलाओं का मजाक बनाना था, सामाजिक विषयों का परीक्षण करने या प्रामाणिक चरित्रों का निर्माण करने का बहाना भी नहीं था।

कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के अग्रज ज्योतीन्द्रनाथ टैगोर दीनबंधु मित्र और गिरीश घोष जैसे नाटककारों के मध्य में थे। उस काल के स्वल्प बंगला नाटकों में उनका योगदान नगण्य नहीं था। उन्हें रंगमंच के लिए तात्कालिक नाटक न लिखने का और टैगोर परिवार के सांस्कृतिक परिवेश का लाभ प्राप्त था। उन्होंने जो लगभग तीस नाटक लिखे उनमें से अधिकांश संस्कृत और फ्रांसीसी नाटकों के अनुवाद तथा रूपांतरण थे। उनके प्रिय फ्रांसीसी नाटककार मोलियर थे, जिसके अनेक नाटकों का उन्होंने अनुवाद किया या मूल से मुक्तरूप से रूपांतरण किया। हो सकता है कि उन्होंने मोलियर के काल के फ्रांसीसी बूर्जुआ वर्ग के भ्रष्टाचार और पाखंड तथा मध्य उन्नीसवीं शताब्दी के नव-धनिक बंगाली बाबुओं के समाज के भ्रष्टाचार तथा पाखंड के बीच कुछ समानता पाई हो। तथापि, सादृश्य सतही था और परिणामस्वरूप नाटक सारहीन थे। एक गंवार और धोखेबाज व्यक्ति को लेकर, जो कि झूठे दिखावे के जरिए एक धनी महिला से विवाह करने की कोशिश करता है, उन्होंने 'अलीक बाबू' नामक जो प्रहसन लिखा था उसमें भी यही बात थी। ज्योतीन्द्रनाथ ने अनेक रोमानी संगीत-नाटक तथा 'पुरु विक्रम' जैसे ऐतिहासिक नाटक लिखे। 'पुरु विक्रम' सिकंदर महान तथा उसके हिन्दू प्रतिद्वंद्वी राजा पोरस पर लिखा गया था। इस नाटक में और अनेक अन्य नाटकों में उन्होंने बढ़ती हुई राष्ट्रवादी भावना को अभिव्यक्ति दी और अन्य नाटककारों की भांति ही भारतमाता की प्रतिमा अंकित करने के लिए, जिसके पुत्र एकता के सूत्र में बंधे हुए, वीर और स्वतंत्र थे, आख्यानों और विगत गौरवमय इतिहास का सहारा लिया। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि आज भी ज्योतीन्द्रनाथ के जिन कुछ नाटकों की दर्शकों द्वारा प्रशंसा की जाती है वे उनके गंभीर नाटक नहीं हैं बल्कि उनके 'हठाट नवाब' तथा 'अलीक बाबू' जैसे प्रहसन

हैं। भले ही उनमें कोई और बात नहीं है, फिर भी इतना अवश्य है कि वे रंगमंचीय दृष्टि से मनोरंजक हैं।

ज्योतीन्द्रनाथ टैगोर के नाटकों ने बंगला नाट्य साहित्य के क्षीण कलेवर को बढ़ाया, किंतु रंगशाला के मालिकों और प्रबंधकों ने उन्हें पर्याप्त: आकर्षक नहीं समझा। उपन्यासों, विशेषत: बंकिम चन्द्र चटर्जी के उपन्यासों, के नाट्य रूपांतरण को अधिक लाभजनक उपक्रम माना जाता था। सन् 1873 तथा 1878 के बीच बंगाल थिएटर ने दुर्गेशनंदिनी, कपालकुंडला, मृणालिनी तथा चन्द्र शेखर के नाट्य रूपांतरण प्रस्तुत किए, जबकि नेशनल थिएटर ने विषवृक्ष, मृणालिनी तथा गिरीश घोष कृत दुर्गेशनंदिनी का नाट्य रूपांतरण प्रस्तुत किया। नाट्य रूपांतरण के लिए मधुसूदन दत्त कृत मेघनादवध काव्य, नवीनचन्द्र सेन कृत पलासीर युद्ध तथा हेमचन्द्र बनर्जी कृत वृत्त संहार जैसे सुदीर्घ महाकाव्यों को भी लिखा गया।

किंतु न तो नाट्य-रूपांतरणों से, न अनुवादों से और न रूपांतरणों से ही उन बढ़ते हुए दर्शकों की मांग पूरी हो सकती थी, जो कि मनोरंजन तथा प्रतिरूपी भावना के इच्छुक थे। दर्शकगण कालांतर में दीनबंधु मित्र तथा मधुसूदन दत्त के पुराने नाटकों, मनमोहन बसु या राजकृष्ण राय के संगीत-नाटकों, दर्जनों अन्य लेखकों के फूहड़ प्रहसनों और उपन्यासों के नाट्य रूपांतरणों को देखते-देखते थक गए थे। 'तरुण बंगाल' के रूढ़िभंजी उत्साह और ब्रह्मसमाजी सुधारकों के उदार प्रगतिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी आरंभ हो गई थी। रूढ़िवादी हिन्दूवाद अपनी कुछ बुराइयों से छुटकारा पाकर सुधारकों की चुनौती का सामना कर रहा था और श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद और बंकिमचंद्र चटर्जी के नए निर्वचनों के जरिए स्वयं को पुनः जता रहा था। सामान्य जन तथा अ-बुद्धिजीवी वर्ग के स्तर पर इसके दो परिणाम हुए। एक परिणाम था उदार आंदोलनों तथा विचारों का प्रतिक्रियात्मक विरोध। दूसरा परिणाम था धर्मपुनरुत्थानात्मक हिन्दूवाद के प्रति नवीकृत उत्साह। रंगमंच मध्यम वर्ग के दर्शकों की, जिनकी संख्या अब बहुत हो गई थी, ऐसी आकांक्षाओं और सामूहिक अभिरुचि की अन्य अभिव्यंजनाओं के प्रति अनुक्रिया कर रहा था। मुख्यतः एक व्यक्ति गिरीशचंद्र घोष की अपूर्व उद्यमशीलता तथा प्रतिभा के कारण वह ऐसा कर सका और रंगमंच को अनेक नाटक मिल सके।

एक अभिलेखबद्ध वार्तालाप में गिरीश घोष ने स्वीकार किया था कि उन्होंने 'नितांत आवश्यकता के कारण' नाटक लिखना आरंभ किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि बंकिम चंद्र और मधुसूदन दत्त की कृतियों के नाट्यरूपांतरणों के समाप्त हो जाने के बाद रंगशाला के पास कोई 'मंचनयोग्य' नाटक नहीं रह गए थे। इसलिए उन्हें लिखना पड़ा। उस समय नए नाटकों की जरूरत और मांग भले ही रही हो

फिर भी यदि गिरीश घोष के मन में स्वयं के विचारों को नाटकों के माध्यम से अभिव्यक्त करने की प्रबल इच्छा न रही होती तो उनसे वे नाटक न लिखे जाते जो उन्होंने लिखे और उनका उस नाटककार के रूप में विकास न हुआ होता जैसा कि हुआ। उन्होंने परिश्रमपूर्वक नाट्य साहित्य का अध्ययन किया और जात्रा में व्यतीत किए गए अपने आरंभिक वर्षों में प्राप्त अनुभव पर मनन-चिंतन किया और रंगशाला के साथ अपने सुदीर्घ और घनिष्ठ संबंध के सहारे बड़ी मेहनत से शिल्प को सीखा। उनके अनेक नाटकों, सुखांत नाटकों, संगीत नाटकों, प्रहसनों और स्वांगों में बहुत विविधता—और असमता—है। उनका प्रथम नाटक 'अगोमणि', जो सन् 1877 में लिखा गया था, गीतों की एक श्रृंखला के अतिरिक्त कुछ भी न था। उपन्यासों के रूपांतरण तथा अनुवाद का कार्य करने के पूर्व उन्होंने अनेक अन्य नाटक लिखे। किंतु स्पष्टत: उन्होंने इस कार्य को असंतोषजनक पाया और वे पूर्णांग नाटकों के लेखन में और इसके लिए एक उपयुक्त नाटकीय भाषा की तलाश में जुट गए।

गिरीश घोष ने एक बार कहा कि शेक्सपीयर उनका आदर्श नाटककार था। अपने कुछ निबंधों में उन्होंने यह दर्शाया कि उन्होंने शेक्सपीयर का अध्ययन कितनी सावधानी से किया था। तथापि, उनके स्वयं के नाटकों में शेक्सपीयर का प्रभाव बाहरी बातों तक ही सीमित है, जैसे, पांच अंकों की संरचना, षड्यंत्रों की बहुलता, संयोगात्मक घटनाएं तथा असामयिक मृत्यु, चरित्रों के अनियंत्रित आवेग और उनके भावोद्गार। ये सभी बातें उनके बंगाली दर्शकों के मन को आंदोलित कर देती थीं। उन्हें बंगाल से असीम अनुराग था और वे बंगालियों के मानस से भलीभांति परिचित थे। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि उन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथाओं पर जो नाटक लिखे थे उनमें उन्होंने मधुसूदन दत्त के विपरीत, वाल्मीकि और वेदव्यास के बजाय कृत्तिवास तथा काशीराम दास कृत बंगला रामायण तथा महाभारत के चरित्रों को अपनाया। उन्होंने एक बार कहा कि उसकी भाषा के आधार कृत्तिवास तथा काशीराम थे। संभवत: ऐसा था भी। किंतु आधार या प्रभाव चाहे जो भी रहा हो, फिर भी उन्होंने जिस प्रासाद का निर्माण किया था वह उनका अपना था और उन्होंने बंगला नाटक को एक प्रामाणिक बंगला वाक्चार दिया।

यदि प्रहसनों और स्वांगों को सम्मिलित किया जाए तो गिरीश घोष ने सौ से भी अधिक नाटक लिखे। वे एक भावुक व्यक्ति थे और उन्होंने अपने नाटकों में, विशेषत: पौराणिक नाटकों में, अपनी भावनाओं को मुक्त अभिव्यक्ति दी। अपने कृतित्व-काल के बहुत आरंभ में उन्होंने महान वैष्णव संत श्री चैतन्य के जीवन पर 'चैतन्य लीला' नाटक लिखा था। विनोदिनी दासी ने, जिन्होंने संत की भूमिका के अभिनय द्वारा हलचल मचा दी थी, लिखा है कि परमानंदवस्था के अभिनय

का भावात्मक तनाव इतना अधिक हुआ करता था कि वे बहुधा मूर्छित हो जाया करती थीं। इसके शीघ्र बाद उन्होंने 'बिल्वमंगल ठाकुर' नाटक लिखा, जो कि जून 1886 में स्टार में प्रदर्शित किया गया। यह नाटक एक पौराणिक कथा पर आधारित है जिसमें एक ऐसे इंद्रियपरायण ब्राह्मण युवक की कथा कही गई है जो कि एक वेश्या पर अनुरक्त था, किंतु अकस्मात् परमात्मा की कृपा से अपनी इंद्रियासक्ति के लिए स्वयं उसी वेश्या से प्रताड़ित होकर उसका उद्धार हो जाता है। 'बिल्वमंगल ठाकुर' ने गिरीश घोष को उनके काल के नाटककारों में अग्रणी बना दिया और उनके समकालीन व्यक्तियों ने, जिनमें स्वामी विवेकानंद भी सम्मिलित थे, सिंहावलोकन में उनकी अपरिमित प्रशंसा की। चाहे नाटकों के विषय धार्मिक विभूतियां रही हों (बुद्धदेव चरित, रूप संपातन) या ऐतिहासिक अथवा अर्ध-ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हों (अशोक, सिराजुद्दौला, आनंद राहो) या वे रामायण अथवा महाभारत की कथाओं पर आधारित रहे हों (सीताहरण, जन) या मध्ययुगीन वैष्णव व्यक्ति रहे हों (बिल्वमंगल ठाकुर, करामती बाई), ये नाटक धार्मिक या देशभक्तिपूर्ण भावना से ओतप्रोत थे। संरचात्मक रूप से चरित्रों की भांति नाटकों में भी विविधता है, किंतु उनमें एक उच्च नैतिक उद्देश्य की अविरल धारा प्रवाहित होती रहती है।

जिन नाटकों को 'सामाजिक' नाटक कहा जाता है उनमें उनका प्रथम नाटक 'प्रफुल्ल' (सन् 1889) भी सुविख्यात है। 'प्रफुल्ल' नाटक एक दुःखांत नाटक है, जिसमें एक समृद्ध बंगला परिवार का पतन और नाश चित्रित किया गया है। इसमें दुर्भाग्य, कुमंत्रणाओं, उत्तेजनापूर्ण सुखांत दुष्कृत्यों से उद्भूत विविध भावनाओं का चित्रण किया गया है। उनके सभी नाटकों में से यह नाटक सर्वाधिक मंचित हुआ और उसके दुःखी नायक जोगेश की भूमिका उनकी पीढ़ी के और बाद की पीढ़ियों के प्रमुख अभिनेताओं की वांछित भूमिका रही है। इन नाटकों में उन्होंने दहेज जैसी कुरीतियों ('बलिदान') तथा विधवाओं की दुर्दशा ('शास्ति कि शांति') की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। किंतु उन्होंने हिन्दू जीवन संहिता के आधारों पर कभी भी आपत्ति प्रकट नहीं की। उन्होंने सौजन्य, उदारता तथा आत्मत्याग का प्रतिपादन किया किंतु उन्हें उदारवादियों तथा उनके द्वारा प्रतिपादित सुधारों से कोई लगाव नहीं था। परिणामस्वरूप उनके चरित्र ऐसे व्यक्ति हैं जो कि या तो बाह्य, आविष्कृत घटनाओं की प्रतिक्रिया करते हैं या उनके निर्माता द्वारा कल्पित भावात्मक बहाव में बह जाते हैं। क्षण भर के लिए वे अनुकंपा या क्रोध को जाग्रत करते हैं किंतु उनमें स्थायी महत्त्व के नाटकीय चरित्रों की गुणवत्ता का अभाव है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में, जिनकी संख्या काफी है, घटनाओं की दूरस्थता तथा नवजात राष्ट्रवाद की आवश्यकताओं के बहाने परदुख कातरता, या विजयी नायकों की वीरता तथा वीरोचित गुणों के प्रतीक

माना गया था। पहले नाटकों की तरह इनमें भी उन्होंने अपने दर्शकों की पसंदगियों और नापसंदगियों को नाटकीय अभिव्यक्ति दी।

'सामूहिक पसंदगियों' में स्पष्टतः कई प्रकार की पसंदगियां शामिल थीं। इन पसंदगियों में एक पसंदगी का स्थान ऊंचा था और वह थी मनोरंजन की पसंदगी—ऐसा मनोरंजन जो कि सीधा-साधा हो किंतु यथार्थतः विशुद्ध न हो। इस मांग को पूरा करने के लिए से संबद्ध गीतों और नृत्यों से पूर्ण लोकप्रिय संगीत नाटकों के अच्छे प्रतिदर्श हैं। उनमें वे अपनी बाध्यताकारी उपदेशात्मकता और हिन्दू कट्टरपन की हंसी उड़ाने के प्रवृत्ति से मुक्त थे। परिणाम लाभजनक था। उनमें से एक 'अबू हुसैन' नाटक जो कि एक ऐसे व्यक्ति की रोमानी कहानी है जो एक दिन के लिए बगदाद का खलीफा बन जाता है, एक मनोरंजक सुखांत नाटक है और मधुरता तथा निर्दोष हास्यविनोद से परिपूर्ण है।

पिछले तीस वर्षों या लगभग इतने ही समय में, गिरीश घोष के अनेक नाटकों में से जो कुछ नाटक प्रदर्शित किए गए हैं वे मात्र आनुष्ठानिक श्रद्धावश ही अभिनीत किए गए हैं। पुराने प्रशंसकों, विद्वानों तथा छात्रों में आज उनके कुछ ही पाठक हैं। उनके नाटकों संबंधी समकालीन अभिमत स्पष्टतः अतिरंजित प्रतीत होता है। उनकी तुलना शेक्सपीयर से तथा उनके चरित्रों से की गई। इस प्रकार, 'दि इंडियन स्टेज' के लेखक हेमचंद्र दासगुप्त ने 'महाभारत' की वीर नायिका जन को "शेक्सपीयर की बोलकिनया से भी अधिक भव्य तथा नवीन मार्गरेट से भी अधिक कृतसंकल्प तथा महिमामयी" माना।[1] तथापि, उनके नाटकों को फिर से पढ़ने पर हम उनकी त्रुटियों को जान लेते हैं। जहां वे पुराण, आख्यान और इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करते है वहां उनमें घटनाओं की भरमार होती है और वे आदर्शवाद, नैतिक प्रेरणाओं और उपदेशों से लदे होते हैं। वीरतापूर्ण, मसीही और खलतापूर्ण चरित्र पूर्वकल्पित सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए-से व्यवहार करते हैं। केवल उत्तर कलकत्ता के धनी तथा मध्यम वर्ग के परिवारों का चित्रण करने वाले सामाजिक नाटकों में ही पात्रों में कतिपय वास्तविकता है और कुछ नाटकीय प्रामाणिकता है। व्यवहार प्रतिरूपों तथा घटनाओं में सत्याभास है। यह प्रथमतः लेखक के अपने पात्रों के पारिवारिक तथा सामाजिक आचार के प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण और द्वितीयतः उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा के ज्ञान के कारण संभव हो सका है। उनके काल के पाठक, और अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से दर्शक, हिन्दू संयुक्त परिवारों के उन षड्यंत्रों और क्षुद्रता, लालच और प्रवंचना, प्रेम और निष्ठा और उन सामाजिक रूढ़ियों तथा मान्यताओं को आसानी से परस्पर संबद्ध कर सकते थे जिनके बारे में या जिन्हें

1. वही, पृ॰ 127.

लेकर नाटक लिखे गए थे। उनके लगभग सभी सामाजिक नाटकों का दुःखद अंत होता है, जिसके पीछे यह उद्देश्य था कि लोगों के हृदय पर प्रभाव पड़े और वे समझ लें कि सामाजिक कुरीतियों और व्यक्तिगत बुरी आदतों का कितना भीषण परिणाम होता है। तथापि, उनके अनेक नाटकों में घटनाओं में मोड़ जबर्दस्ती लाया गया है और दुःख-पर्यवसायी चरित्रों की दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएं ऐसी हैं मानो कि खतरे से आगाह करने वाली झंडियां लगी हों।

कोई भी साहित्य काल के संदर्भ से हटकर विद्यमान नहीं रहता—नाट्य साहित्य तो बिलकुल ही नहीं—या किसी साहित्यिक परंपरा की तत्कालीन संरचना पर विचार किए बिना उसका मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए। जिस समय गिरीश घोष ने नाटक लिखना आरंभ किया था, बंगला नाट्य साहित्य अपने स्वरूप और अपने कार्यों के संबंध में अनिश्चय की अवस्था में था। तीस वर्षों से भी अधिक समय तक रंगमंच को नाटकों की पूर्ति करने के पश्चात गिरीश घोष ने सतत नाटकीय भाषा को लेकर प्रयोग किया तथा वे न्यूनाधिक रूप में एक ऐसी भाषा की रचना करने में सफल हुए जो कि न केवल भावनाओं और मनोभावों को नाटकीय दृष्टि से अभिव्यक्त करने में बल्कि कथा को आगे बढ़ाने में भी सक्षम थी। वे 'जात्रा' से परिचित थे और अंग्रेजी नाट्य साहित्य से अवगत थे। वे व्यापारिकता के कारण भ्रष्ट हुए लोक रूपों की अश्लीलता से और उनसे उत्पन्न भाषात्मक अपकर्ष से अवगत थे। एक नाटककार के रूप में उनकी प्रधान उपलब्धि यह थी कि वे एक ऐसी नाटकीय भाषा का निर्माण कर सके जो कि उनके रंगमंचीय लक्ष्यों के लिए उपयुक्त थी। यह सत्य है कि वह कलकत्ता के सालाना आमदनी वाले व्यक्ति—व्यापारी—व्यवसायी व्यक्ति—वेतन भोगी मध्य वर्ग की बोलचल की भाषा के आधार पर ढली थी। उसमें हम दीनबंधु मित्र के दुनियादारी के मुहावरों का अभाव पाते हैं। किंतु सर्वोपरि गिरीश घोष बंगला नाटकीय संवाद के प्रथम प्रधान आविष्कर्त्ता थे। पद्यांशों तथा संवादों के मामले में उन्होंने मधुसूदन की अतुकांत कविता में परिवर्तन और सुधार किया और बंगाली कविता, 'पयार', जैसा कि उसे कहा जाता है, के आधारभूत छंदोबद्ध रूप के अनेक नियमों को तोड़ा। ऐसा करते हुए उन्होंने नाटकीय भाषा और अभिनेताओं को एक व्यापक स्वरपरिवर्तन-क्षेत्र दिया। जिस नियम का की अभिव्यंजना शक्ति को बढ़ाया उन्होंने अनुसरण किया वह यह था कि वे पद्यों को सुनकर विरामों की प्रभाव- शीलता तथा अलंकारिता की सुविधा के अनुसार तालों की रचना करते थे। उन्होंने छंदों को परिवर्तित और रूपांतरित किया और कविता को कुछ उदार अर्थों में मुक्त कर दिया। 'सिराजुद्दौला' नामक ऐतिहासिक नाटक का निम्नलिखित अंश इसका एक उदाहरण है।

बेगम अलीबर्दी : मैं अफवाहों से बहुत बेचैन हूं।

सिराज : माता, आप मुझे बेवजह डांटती हैं। मुझे बताइए, कि किस श्रेष्ठ वरिष्ठ मंत्री का मैंने अपमान किया है ? किस तुच्छ व्यक्ति को मैंने उच्च पद पर आसीन किया है। क्या आप रियासत की स्थिति से परिचित नहीं हैं, माता ! मंत्री स्वार्थी हैं। सभी अपने स्वार्थ के पुजारी हैं। लोगों के दुःख-सुख से किसी को सरोकार नहीं है।[1]

इस काल के दूसरे लोकप्रिय नाटककार अमृतलाल बसु, गिरीश घोष की भांति, एक अभिनेता के रूप में आरंभ से ही व्यावसायिक रंगमंच से संबद्ध थे। समय व्यतीत होने के साथ-साथ उनका संबंध बढ़ा और प्रथम श्रेणी के अभिनेता बन जाने के अतिरिक्त वे रंगमंच के व्यावसायिक पक्ष से संलग्न हो गए। और दो से भी अधिक दशकों तक 'स्टार' थिएटर का कारोबार देखते रहे। पुनश्च:, गिरीश घोष की भांति वे रंगमंच के लिए, जिसमें नाटकों का अभाव था, नाटक लिखने लगे। एक अभिनेता के रूप में अमृतलाल की विशेषता यह थी कि वे एक हास्य अभिनेता थे और उन्होंने एक नाटक के रूप में सुखांत नाटक और प्रहसन लिखने की दिशा में अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया। यदि गिरीश घोष के नाटक हिन्दू रूढ़िवाद की प्रचलित स्थिति को चित्रित करते थे तो अमृतलाल बसु के व्यंग्यपूर्ण प्रहसन सीधे-सीधे प्रतिक्रियावादी थे। शिक्षित महिलाओं पर व्यंग्य करना उनका प्रिय विषय था। उनके बाद अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवक उनके व्यंग्य के शिकार हुआ करते थे। वे सुधार के ऐसे किसी भी विचार के कट्टर विरोधी थे जो रूढ़िविहीनता का प्रतिपादन करता था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि हम व्यर्थ ही उनके नाटकों में किसी विश्वसनीय चरित्र या विनोदपूर्ण स्थिति की तलाश करते हैं। 'विवाह विभ्राट', 'बाबू', 'बऊमा' या 'खासदखल' जैसे उनके सुविख्यात सुखांत नाटकों में, जिनमें वे विधवाओं के पुनर्विवाह, प्रतिवादी ब्रह्म समाज तथा शिक्षित महिलाओं के कट्टर विरोधी थे, परिस्थितियां आविष्कृत हैं और एक ही प्रकार के विकृत पात्र विभिन्न वेशभूषाओं में और विभिन्न नाम धारण किए हुए आते हैं। तथापि, उनमें शाब्दिक व्यंग्य-विनोद की प्रतिभा थी जिसके कारण वे आह्लादपूर्ण संवादों की रचना कर सके। जैसा कि 'तिलतर्पण' जैसे नाटकों से और बंकिमचंद्र चटर्जी के उपन्यास 'चंद्रशेखर' के उनके द्वारा किए गए नाट्य रूपांतरण से स्पष्ट है, उन्हें नाटकीय रचना की अधिक अच्छी जानकारी थी। इसके अतिरिक्त उनमें प्रतिक्रिया और वाणिज्यवाद के इस काल में लिखे गए ढेर सारे नाटकों की भद्दी अश्लीलता से दूर रहने का नकारात्मक गुण भी था।

1. अनुवाद।

यह माना जाता है कि अमृतलाल बसु के नाटकों ने उस हास्य-विनोद की भरपाई कर दी है जिसका गिरीश घोष के नाटकों में अभाव था। उनके नाटक बहुत लोकप्रिय थे और उन्हें देखकर दर्शकगण बारंबार ठहाका लगाया करते थे। समय-समय पर उनके नाटकों का आज भी प्रदर्शन होता है और लोग भारी संख्या में उन्हें देखते हैं। उनके नाटकों की लोकप्रियता का और 'हास्य लेखकों के अधिपति' के रूप में उनकी ख्याति के कारण चाहे जो भी हों, फिर भी एक नाटककार के रूप में उनका महत्त्व सूक्ष्म अन्वीक्षण करने पर खरा नहीं उतरता। जितने संकीर्ण उनके विचार थे उतनी ही छोटी उनकी दुनिया थी। उनके पात्रों में विकृत चरित्रों के रूप में भी प्रामाणिकता का अभाव है और कथा-वस्तुएं असंभाव्य घटनाओं का सम्मिश्रण हैं।

इस दौरान गिरीश घोष और अमृतलाल बसु ने बंगला नाट्य साहित्य के वे अनेक नाटक लिखे जिनपर कि रंगमंच निर्भर था और जैसा कि वह रामनारायण के आरंभिक काल के बाद विकसित हुआ। वे भी पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों में और इस शताब्दी के आरंभिक वर्षों में बंगला अभिमन के वातावरण का पर्याप्ततः प्रतिनिधित्व करते थे।

6

गिरीश घोष तथा नाट्यशालाएं

गिरीशचन्द्र घोष का जन्म सन् 1844 में उत्तर कलकत्ता—जो कि बढ़ते हुए बंगाली मध्यम वर्ग और भूमिधारी-व्यापारी धनिक वर्ग की बस्ती थी—के एक साधारण आर्थिक स्थिति के परिवार में हुआ था। चौदह वर्ष के होने और स्कूली शिक्षा पूर्ण करने के पूर्व ही उनके माता-पिता की मृत्यु हो गई। अपने बाल्यकाल से ही वे 'जात्रा', 'हफ-अखराई' और 'कथाकथा' तथा लोक मनोरंजन के अन्य रूपों के प्रति आकृष्ट थे। एक भावुक किशोर होने के नाते उन्होंने जात्रा मंडलियों को अपने अनुकूल पाया और वे उनके प्रदर्शनों में उपस्थित रहने से कभी नहीं चूकते थे, जो कि बस्ती के धनी लोगों का प्रश्रय पाकर बारंबार हुआ करते थे। रंगमंच के प्रति उनके हृदय में जो रुचि जागी वह नाटकों के प्रदर्शनों को देखकर उतनी नहीं जागी जितनी कि नाटकों को पढ़कर। जब भी उन्हें अवसर मिला वे नगर के अंग्रेज निवासियों की रंगशालाओं में प्रदर्शित अंग्रेजी नाटक और उत्तर कलकत्ता की अव्यवसायी रंगशालाओं में धनी प्रश्रयदाताओं द्वारा प्रदर्शित बंगला नाटक देखा करते थे।

सन् 1867 तक गिरीश घोष 'नाट्यशास्त्र' से इतने परिचित हो गए थे कि उन्होंने मधुसूदन दत्त की रचना 'शर्मिष्ठा' को एक जात्रा नाटक के रूप में प्रस्तुत किया, जिसके गीत उन्होंने स्वयं लिखे थे। वे 'बागबाजार अमेच्योर थिएटर' के निर्माण में सक्रिय रहे और जब वे इस मंडली द्वारा अक्तूबर, 1869 में प्रस्तुत किए गए नाटक 'सधाबर एकादशी' में नीमचंद की भूमिका में आए तो वे रातों-रात एक प्रसिद्ध अभिनेता बन गए। यह नाटक विभिन्न स्थानों में अनेक बार प्रस्तुत किया गया जिनमें एक बार नाटककार स्वयं उपस्थित थे। वे गिरीश घोष के अभिनय से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उनसे बार-बार कहा : "मेरा विश्वास है कि नीमचंद का निर्माण केवल तुम्हारे लिए ही किया गया था; तुम्हारे बिना नाटक कदापि अभिनीत नही किया जा सकता था।"[1] बहुत समय बाद, अपना 'शास्ति कि शांति' दीनबंधु को समर्पित करते हुए गिरीश घोष ने उस काल

1. एच० एन० दासगुप्त द्वारा लिखित 'दि इंडियन स्टेज', खंड दो, पृ० 158.

के अव्यवसायी रंगमंच की कठिनाइयों का प्रत्यास्मरण किया और लिखा : "कोई भी नाटक वेशभूषा पर होने वाले खर्च के कारण धनी लोगों के प्रश्रय के बिना प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। 'सधाबर एकादशी' के लिए खर्चीली वेशभूषा की आवश्यकता नहीं थी और मामूली साधनों वाले कुछ युवा व्यक्ति उसे प्रस्तुत कर सकते थे।" एक अभिनेता के रूप में अपनी प्रसिद्धि के अतिरिक्त उन्होंने जात्रा नाटकों के लिए गीतों और गानों की रचना करने के लिए भी ख्याति अर्जित कर ली थी। सन् 1870 में उन्होंने रानीमोहन सरकार की रचना 'उषा अनिरुद्ध' के लिए कम-से-कम छब्बीस गीत लिखे और एक जात्रा मंडली बनाई। शीघ्र ही वे बस्ती की रंगमंचीय गतिविधियों में संलग्न हो गए, जिसका अर्थ था यहां-वहां कोई नाटक प्रस्तुत करना, अंतहीन वार्ताएं करना, मंडलियों के गठन का प्रयास करना और एक नियमित रंगशाला का स्वप्न देखना। जब अंततः एक मंडली बनी और जनसाधारण के लिए एक नाटक प्रस्तुत किया गया तो गिरीश घोष उन लोगों में नहीं थे जिन्होंने नाटक प्रस्तुत किया या अभिनीत किया। दुर्भाग्यवश वे वाणिज्यिक प्रदर्शन के प्रश्न पर उससे अलग हो गए। तथापि, वे लौट आए और 22 फरवरी, 1873 को नेशनल थिएटर द्वारा प्रस्तुत मधुसूदन दत्त के नाटक 'कृष्णाकुमारी' में भीमसिंह की भूमिका में 'एक सम्मानित अव्यवसायी' के रूप में अभिनय करने के लिए राजी हो गए। यह नाटक असुखांत था और उसका नायक दुर्भाग्य का मारा एक पिता था—ये दोनों ही बातें भारतीय नाट्य परंपरा के लिए परकीय थीं। सामान्यतः शास्त्रीय संस्कृत नाटकों में या जात्राओं में दुखद अंत या दुखी चरित्र नहीं पाए जाते। गिरीश घोष को आगे चलकर एक अभिनेता के रूप में जो अपरिमित ख्याति प्राप्त हुई वह उनकी अनेक 'दुखांत' भूमिकाओं पर आधारित थी। उनके स्वयं के अनेक नाटकों में एक पीड़ित और दुखी पिता का चरित्र बारंबार आता है।

दिसंबर, 1874 में जब गिरीश घोष पार्कर एंड कम्पनी में लेखापाल का कार्य कर रहे थे, उनकी पत्नी का देहावसान हो गया। अपेक्षाकृत अक्रियता का कुछ समय बीता किंतु सन् 1877 में वे नेशनल थिएटर की पुनः स्थापना में संलग्न हो गए। उन्होंने सन् 1877 में अपना प्रथम नाटक भी लिखा, जिसे नेशनल थिएटर ने 6 अक्तूबर, 1877 को प्रस्तुत किया। उसी वर्ष उन्होंने मधुसूदन की रचना 'मेघनादकाव्य' से आरंभ करते हुए सुदीर्घ महाकाव्यों तथा उपन्यासों के नाट्य-रूपांतरणों की शृंखला का प्रथम नाटक लिखा, जिसे नेशनल थिएटर ने 1 दिसंबर, 1877 को प्रस्तुत किया। अगले दो या तीन वर्ष एक प्रकार से नाटक लिखना सीखने और कला तथा रंगमंच के कारोबारी पहलू को समझने में बीते। सन् 1880 के आखिर में प्रताप जौहरी नामक एक व्यापारी ने नेशनल थिएटर को कारोबार की तरह चलाने के लिए ले लिया।

उन्होंने गिरीश घोष को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे अपनी नौकरी छोड़ दें और इस थिएटर में एक वेतनभोगी प्रबंधक के रूप में आ जाएं। यह तथ्य कि गिरीश घोष ने एक पक्की नौकरी छोड़ दी और एक ऐसे उपक्रम में, जिसका भविष्य अनिश्चित था, कम वेतन स्वीकार कर लिया, इस बात का संकेत देता है कि गिरीश घोष रंगमंच के विकास में अपना समय और अपनी शक्ति समर्पित करने के लिए कोई भी अन्य व्यवसाय छोड़ देते, जो कि उन्होंने तब से सन् 1912 में अपनी मृत्यु होने तक किया।

गिरीश घोष उस बढ़ते हुए मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि थे, जो कि धनिक वर्ग के वर्चस्व का विरोधी था और जिसने रंगमंच जनसाधारण को उपलब्ध कराया था। उन्होंने उसे लोकप्रिय बनाया और इच्छा से या अनिच्छा से उसे वाणिज्याभिमुख किया। इसके लिए दर्शकों को बढ़ाना आवश्यक था। 'अभिनय ओ अभिनेता' नामक ग्रंथ में प्रकाशित गिरीश घोष के निबंधों से हमें इस बात की जानकारी मिलती है कि रंगमंच के विभिन्न पहलुओं पर उन्होंने कितनी गहराई से सोचा था और उसकी गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए कितना अथक परिश्रम किया था। किंतु वे रंगमंच के लिए लोकप्रियता के आवश्यक होने के अंतर्निहित तर्क से मुक्ति नहीं पा सके। तथापि वह उदारतावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का, हिन्दूवाद के पुनरुत्थान का काल था, जो अनेक कुरीतियों तथा प्रतिक्रियावादी विश्वासों को सुधारवादी धर्मद्रोह का प्रतिरोध करने के नाम पर संपादित किए हुए था और सह रहा था। वह एक ऐसा काल भी था जब अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हो चुका था और राष्ट्रवादी भावनाएं आंदोलित हो रही थीं।

इन अन्तश्चेतनामूलक खिंचावों और दबावों के साथ-साथ जात्रा तथा 'अंग्रेज़ी' रंगमंच के विरोधात्मक 'तकनीकी' प्रभाव भी विद्यमान थे। गिरीश घोष और अन्य लेखकों ने जो कुछ किया वह यह था कि उन्होंने बेमेल चीजों का मेल बिठाया और उन्हें एक ऐसे मनोरंजन के रूप में संयोजित किया जिसे उस काल के नाटक-दर्शकों ने पसंद किया और प्रश्रय दिया। रंगमंच मध्यमवर्गीय लोगों की भावुकता तथा कलाप्रियता, प्रबल उत्साह तथा मार्गदर्शी भावना और साथ ही उनकी रूढ़िप्रियता, क्षुद्रता तथा विषयासक्ति को प्रतिबिंबित करता था। बंगाल थिएटर के एकमात्र अपवाद को छोड़, विस्तार और सुदृढ़ीकरण के इस काल में कोई भी ऐसा सार्वजनिक रंगमंच नहीं था जिससे गिरीश घोष सक्रियता से संबद्ध नहीं थे और जिसे उन्होंने नहीं बढ़ाया। कोई भी रंगशाला ऐसी नहीं थी जो कि न्यूनाधिक रूप में उनके अनेक नाटकों पर निर्भर न रही हो। अंततः, यदि उन्होंने अनेक अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों को सिखाया न होता, सलाह न दी होती और प्रेरणा न दी होती तो कोई भी रंगशाला जीवित नहीं रह पाती। 'अभिनय ओ अभिनेता' नामक ग्रंथ की अपनी प्रस्तावना में डा० विभूति मुखर्जी ने लिखा है कि

किस प्रकार किसी नए नाटक के लिए पूर्वाभ्यास आरंभ होने के पूर्व गिरीश घोष एकत्रित अभिनेताओं को नाटक के विभिन्न चरित्रों के बारे में और उन्हें 'साकार करने' के बारे में समझाया करते थे। वे स्वर को नियंत्रित करने और बढ़ाने-घटाने का तरीका और अभिनय की अनेक अन्य तकनीकें बताया करते थे। अपनी आत्मकथा में विनोदिनी दासी ने गिरीश घोष की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा है कि उन्होंने प्रशिक्षण देने पर बहुत परिश्रम किया : "गिरीश बाबू के प्रशिक्षण और सतत मार्गदर्शन के कारण ही मैं उन चरित्रों के साथ तदाकार हो सकी जिनका अभिनय मैं किया करती थी।"

गिरीश घोष के व्यक्तित्व और कृतित्व संबंधी सामग्री का कोई अभाव नहीं है। उनके द्वारा अभिनीत नाटकों की जो सूचनाएं समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं वे उपयोगी और उद्बोधक स्रोत-सामग्री हैं। उनके जीवन पर लिखी गई अनेक पुस्तकें, उनके समकालीन व्यक्तियों, सहकर्मियों तथा शिष्यों के संस्मरण, उनके स्वयं के लेख और उनके वार्तालापों के कुछ अभिलेख उपलब्ध हैं। दुर्भाग्यवश, उनके जीवन-काल के दौरान और बाद में उनके संबंध में जो कुछ लिखा गया है उसमें से बहुत-कुछ लेखों में वह वस्तुनिष्ठता तथा अनासक्ति नहीं है, जो कि होनी चाहिए थी। प्रशंसक समाचारपत्रों, आदरभावी जनता तथा पूजाभावी अगली पीढ़ियों ने उनके प्रति जो श्रद्धा और समादर का भाव दर्शाया उसे दृष्टिगोचर रखते हुए सामग्री की सावधानीपूर्वक छानबीन करना आवश्यक है। जटिलता उत्पन्न कर देने वाली एक बात यह भी है कि वे श्री रामकृष्ण परमहंस के प्रिय शिष्य थे। उनका धार्मिक उत्साह उनकी प्रतिभा और रंगमंच के प्रति उनके योगदान के मूल्यांकन को बहुधा रंजित कर देता है। किंतु इन सभी बातों को छोड़ देने पर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि वे एक महान अभिनेता थे, उनमें अमित प्रतिभा थी और अपरिमित शक्ति थी। एक प्रकार से वे जटिल व्यक्तित्व वाले भावुक व्यक्ति थे। वे एक आदर्शवादी व्यक्ति थे किंतु यथार्थवादी भी थे। वे मनमौजी व्यक्ति थे किंतु अत्यधिक अध्यवसायी भी थे। बहुधा वे अपने स्वीकृत विचारों के विरुद्ध कार्य किया करते थे। कभी-कभी उन्होंने अपने प्रिय रंगमंच की भलाई के लिए बिना किसी शिकवा-शिकायत अपने स्वहित को तिलांजलि दे दी।

गिरीश घोष का जन्म होने के समय तक "देशी लोगों को अंग्रेजी भाषा का ज्ञान कराने" के लार्ड मेकाले के सुप्रसिद्ध 'मिनिट' पर अनुवर्ती कार्यवाही क्रियान्वयन की अवस्था में थी। अंग्रेजी की वैज्ञानिक तथा उदार शिक्षा के लिए शालाओं तथा महाविद्यालयों का प्रादुर्भाव हो चुका था। उनके जन्म के कुछ वर्षों बाद प्रथम भारतीय विश्वविद्यालय का आविर्भाव हुआ। पूर्वतर राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षा और हिन्दू समाज के सुधार संबंधी अपने ओजस्वी प्रतिपादन

से आधारभूमि तैयार कर दी थी। एक ईश्वर की संप्रदाय-निरपेक्ष उपासना के परंपरा-विरोधी ईश्वरवादी आंदोलन को, जिसे उन्होंने सन् 1828 में आरंभ किया था, देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने सन् 1850 में ब्रह्म समाज की स्थापना कर मूर्त-रूप दिया। इस समाज को केशव चंद्र सेन के रूप में एक उल्लेखनीय अनुयायी मिला। समाज की गतिविधियों को बढ़ाने में उन्होंने जो उत्साह दिखाया उससे फूट पड़ गयी और सामाजिक तथा शैक्षणिक सुधार के एक कार्यक्रम को लेकर, जिसमें विधवाओं के पुनर्विवाह, पर्दा प्रथा हटाने, स्त्रियों को शिक्षा देने, अंतर्जातीय विवाह करने, विदेशों की यात्रा करने की पैरवी की गयी थी, जबकि ये सभी बातें हिंदू रूढ़िवाद के प्रतिकूल थीं, सन् 1878 में उन्होंने साधारण ब्रह्म समाज की स्थापना की।

ब्रह्म समाज साहित्य, कला, विज्ञान और समाज-कार्य के क्षेत्रों के उत्कृष्ट व्यक्तियों को आकृष्ट करने में सफल रहा। उसकी प्रधान उपलब्धि यह थी कि उसने 'तरुण बंगाल' के विद्रोही सदस्यों को अराजकतापूर्ण रूढ़िविरोधवाद के पथ से अलग किया। हेनरी डोरोज़िओ के नेतृत्व में 'तरुण बंगाल' के विद्रोही यूरोपीय आमूल-परिवर्तनवाद की मादकता में मत्त थे। वे हिंदूवाद और हिंदू समाज का साफ-साफ विरोध किया करते थे और विरोध बहुधा सार्वजनिक रूप से शराब पीने और गोमांस खाने जैसे धर्मद्रोही प्रदर्शनों का रूप ग्रहण कर लेता था। किंतु सारे अतिवाद के बावजूद 'तरुण बंगाल' ने उस सामाजिक तथा बौद्धिक हलचल के लिए आवश्यक सामग्री जुटा दी जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई। उसी समय, 'तरुण बंगाल' और उत्तरभावी तथा अधिक सारगत ब्रह्म समाज आंदोलन ने हिंदूवाद के पुनरुत्थान की प्रतिक्रिया को गतिशील कर दिया। इन विभिन्न शक्तियों तथा प्रतिशक्तियों ने वैज्ञानिक जिज्ञासा तथा सर्जनशीलता के प्रस्फुटन में, जिसे कभी-कभी बंगाल का रेनासां कहा जाता है, योगदान दिया।

इस आत्मचेतना का एक पहलू था प्राचीन भारत की संस्कृति की महानता का औत्सुक्यपूर्ण आविष्कार तथा उसके उज्ज्वल भविष्य का विश्वास। इससे प्रथमतः राष्ट्रीयता के बोध का और द्वितीयतः राष्ट्रीयता के आग्रह का उदय हुआ। उच्चतर नागरिक सेवाओं में सम्मिलित न किए जाने तथा अंग्रेज शासकों के वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट तथा आर्म्स एक्ट जैसे कतिपय उपायों के प्रतिरोधों ने, जब सन् 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई, राष्ट्रीय चेतना की इन हलचलों को राजनैतिक रूप दे दिया। संस्थापकों का, जिन्हें वाइसराय का आशीर्वाद प्राप्त था, मूल विचार यह था कि प्रतिरोधों को इच्छित दिशा की ओर मोड़ा जाए और कांग्रेस को एक ऐसी अनुग्रतावादी संस्था बनाया जाए जो कि शासकों के साथ भद्रोचित बातचीत करे। कुछ ही वर्षों में कांग्रेस ने अन्य विचारों को अपनाया और शताब्दी के मोड़ तक वह राष्ट्र की प्रतिनिधि राष्ट्रीय संस्था

बन गई। बढ़ती हुई राजनीतिकता ने अनेक आतंकवादी समूहों को जन्म दिया और उग्रतावादी विचारों को अंकुरित किया। जब लार्ड कर्जन ने सन् 1905 में बंगाल का विभाजन किया तो इन सभी बातों ने एक सुदूरव्यापी आंदोलन का रूप ग्रहण कर लिया।

विभिन्न साहित्यिक, बौद्धिक, कलात्मक, सामाजिक तथा राजनैतिक आंदोलनों के इस वातावरण में गिरीश घोष ने रंगमंच का निर्माण करने तथा उसे जनसाधारण को उपलब्ध कराने का कार्य किया। विद्यमान स्थितियों तथा प्रचलित अभिमतों ने उनके कार्य को कठिन बना दिया। उन्होंने सभी कठिनाइयों को पार किया तथा मनोरंजन के एक लोक रूप को विचारों के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाया। उनकी महानता इस तथ्य से सिद्ध हो जाती है कि बंगाल के इतिहास के एक ऐसे काल में, जिसमें अनेक विभूतियों का आविर्भाव हुआ था, उनका स्थान सुरक्षित है।

7

अन्य अभिनेता तथा नाट्यशालाएं

अन्य अनेक लोग ऐसे थे जिन्होंने अपने धन, अपने समय और अपनी प्रतिभा के जरिए कलकत्ता में रंगमंच को लोकप्रिय बनाने में सहायता पहुंचाई। इनमें एक धर्मदास सूर थे जो कि चित्रकार-रंगपट निर्माता-वास्तुविद्-प्रबंधक थे और अथक परिश्रमी तथा अध्यवसायी थे। एक थे नाटककार-अभिनेता नगेन्द्रनाथ बंद्योपाध्याय, जो कि एक अद्वितीय संयोजक थे। एक भुवन नियोगी भी थे, जो सहायता और प्रोत्साहन देने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक व्यक्ति थे जो कि रंगमंच पर नहीं आते थे और प्रशंसा के पात्र नहीं हुआ करते थे, किंतु जिन्होंने सर्वजनसुलभ रंगमंच के निर्माण के लिए परिश्रम किया। तथापि, गिरीश घोष का योगदान प्रश्नातीत रूप से विशालतम था। उनके बाद, जिस व्यक्ति ने सर्वाधिक सहायता पहुंचाई वे थे अर्धेन्दु शेखर मुस्तफी। वे लोकप्रियता में गिरीश घोष के प्रतिद्वंद्वी थे और उन्हें अपने सहयोगियों से समान आदर और अधिक स्नेह प्राप्त था। एक हास्य अभिनेता और स्वांग के मर्मज्ञ के रूप में वे अपने जीवन-काल में एक विख्यात व्यक्ति बन गए।

अर्धेन्दु मुस्तफी का जन्म जनवरी, 1856 में एक ऐसे धनिक वर्गीय परिवार में हुआ था जिसकी स्थिति खराब थी। गिरीश घोष की भांति उन्होंने अपनी औपचारिक शिक्षा पूरी नहीं की, किन्तु स्वयं सीखा। जो भी नाटक उन्हें मिल जाते वे उन्हें बिना अघाए पढ़ जाते। उन्होंने लिखा है कि जब सोलह वर्ष की आयु में पहले-पहल उन्होंने एक नाटक देखा तो किस प्रकार रंगशाला के खटमल ने उन्हें काट खाया। वह एक ऐसा आजीवन रोग था, जिससे उन्होंने कभी भी मुक्त होना नहीं चाहा और न मुक्त हुए। उनके लिए यह घातक था कि उन्होंने एक ऐसे व्यंग्य नाटक में अभिनय किया जिसमें उन धनी संबंधियों का मजाक बनाया गया था, जिनपर वे निर्भर थे। फलस्वरूप वे आश्रय और सहायता से वंचित हो गए। लोगों को हंसाने या हंसी-मजाक में बाजी मार ले जाने के लिए वे कुछ भी दाव पर लगा सकते थे।

अर्धेन्दु मुस्तफी 'नीलदर्पण' के प्रथम सार्वजनिक प्रदर्शन में गोलक बसु और मिस्टर वुड की भूमिका में रंगमंच पर आए। उनका रंग इतना गोरा था जितना

कि किसी ब्राह्मण का भी नहीं होता और अपने पहले ही अवतरण में वे दर्शकों पर छा गए। उन्होंने औपनिवेशिक अंग्रेज, जो कि अनेक बंगला नाटकों में आमतौर पर पाया जाने वाला खलतापूर्ण पात्र था, की चाल-ढाल और तौर-तरीकों का ज्यों-का-त्यों प्रदर्शन कर स्वांग भरने की अपनी सहजात प्रतिभा का सदुपयोग किया। इन भूमिकाओं के कारण वे नाटकों में अपरिहार्य हो गए थे। अन्य व्यक्तियों की भांति ही रंगभूमि में अर्धेन्दु मुस्तफी मुख्यत: प्रधान अभिनेता तथा शिक्षक के रूप में और कभी-कभी किसी नाट्यशाला के प्रबंधक या किरायेदार के रूप में एक रंगशाला से दूसरी रंगशाला को जाते रहे। व्यावसायिक रंगमंच से उनके संबंध के पहले दस या लगभग इतने ही वर्षों में वे बहुधा दौरे पर रहा करते थे या कलकत्ता से बाहर प्रदर्शन किया करते थे। इसी काल के दौरान उन्होंने फुर्ती से भेस बदलने वाले धोखेबाज के रूप में अपनी प्रतिभा को पैना किया।

सन् 1893 में अर्धेन्दु मुस्तफी 'ग्रेट नेशनल' के पूर्ववर्ती स्थल पर नवनिर्मित मिनर्वा थिएटर में सम्मिलित हो गए। उस समय गिरीश घोष 'मिनर्वा' का कार्य-भार सम्हाल चुके थे और 'मैकबेथ' के प्रस्तुतीकरण के लिए तैयारी कर रहे थे। अर्धेन्दु मुस्तफी चार विभिन्न भूमिकाएं कर रहे थे—चुड़ैल की, बूढ़े आदमी की, कुली की और चिकित्सक की। उन्होंने इन छोटी-छोटी भूमिकाओं को काफी अच्छी तरह से निभाया और उन्हें प्रशंसा प्राप्त हुई तथा उन सभी समाचार-पत्रों में, जिनमें नाटकों की समीक्षा की गई थी, उनका विशेष रूप से उल्लेख किया गया। तथापि, अगले प्रदर्शन—गिरीश घोष के नाटक 'अबू हुसैन'—में एक हास्य अभिनेता के रूप में अर्धेन्दु मुस्तफी की योग्यताओं को पर्याप्त क्षेत्र मिला और उनकी ख्याति सुदृढ़ता से स्थापित हो गई।

अर्धेन्दु मुस्तफी ने कुछ और नाटकों के बाद मिनर्वा को छोड़ दिया और एक नाट्यशाला का संचालन और प्रबंध करने का प्रयास किया। किंतु उन्हें सफलता न मिली और कुछ ही समय में 'इमेराल्ड थिएटर', जिसे उन्होंने किराए पर लिया था, कर्ज से लद गया। किन्तु जिन डेढ़ वर्षों तक वे उसमें रहे उस कालावधि के दौरान उन्होंने अभिनेताओं के शिक्षक-प्रशिक्षक के रूप में अपनी असाधारण अभिवृत्ति को विकसित किया। उन्होंने अनेक अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को बिलकुल आरंभ से प्रशिक्षण दिया। ये लोग आगे चलकर अपने व्यवसाय में शीर्षस्थ बने। जैसा कि उनमें से एक ने कहा है, वे किसी मिट्टी की मूर्ति को भी अभिनेता बना सकते थे। अर्धेन्दु मुस्तफी की मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए हुई एक सभा में गिरीश घोष ने उनके असीम धैर्य और अभिनेताओं को प्रशिक्षित करने की उनकी योग्यता का बड़ा मार्मिक वर्णन किया। किसी छोटी-मोटी भूमिका को अभिनीत कर रहे किसी नए अभिनेता को भी अभिनय सिखाते समय और नाट्यकला के शिल्प और रहस्यों की दीक्षा देते समय उन्हें न तो अपनी सुविधा-असुविधा

का खयाल रहता था, न वे थकते थे और न ही उन्हें समय का ध्यान रहता था। अपरेश मुखर्जी अपनी पुस्तक 'रंगालये त्रिश वत्सर' में लिखते हैं कि "एक शिक्षक के रूप में अर्धेन्दु लासानी थे।" शिशिर भादुड़ी ने लिखा कि "गिरीश घोष के विपरीत, जो कि वस्तुत: किसी भी व्यक्ति को कभी भी यह नहीं सिखाते थे कि अभिनय कैसे किया जाता है बल्कि अधिकतर अभिनेताओं को मंच पर इधर-से-उधर आने-जाने और जोर-जोर से बोलने को कहा करते थे, अर्धेन्दु शेखर बिना भेदभाव के सिखाया करते थे।"[1] (संयोगवश, शिशिर भादुड़ी के इस मत के विरुद्ध कि गिरीश घोष किसी भी व्यक्ति को कभी भी नहीं सिखाते थे, प्रमाण उपलब्ध है।)

'बिना भेदभाव के' सिखाने वाले अपने स्वभाव के कारण अर्धेन्दु मुस्तफी अपने सहकर्मियों में लोकप्रिय थे। उनकी निःस्वार्थता, उनका बुद्धिविलास तथा उनकी विनोद वृद्धि, भौतिक सुखों के प्रति उनकी उदासीनता तथा विशालहृदयता आदि बातें बंगाल के रंगमंच के इतिहास का एक हिस्सा हैं। जनता व्यक्तिगत लाभ के प्रति अर्धेन्दु मुस्तफी की उदासीनता को (उन्हें 85 रु० से अधिक मासिक वेतन कभी भी नहीं मिला) 'पारलौकिकता' मानती थी। (गिरीश घोष की धर्म-प्राणता को भी लोग यही मानते थे)। संभवत: इस प्रकार वे अपनी लौकिकता की अचेतन दोष-भावना को प्रयमित किया करते थे। किन्तु अपने प्रिय अभिनेता के प्रति जिसके साथ वे रंगशाला में बैठे-बैठे रात-भर हंसा करते थे, उन्होंने जो प्रेम प्रदर्शित किया उसमें कोई पाखंड नहीं था।

तथापि अर्धेन्दु मुस्तफी केवल उन हास्य भूमिकाओं में ही प्रवीण नहीं थे जिन्हें अभिनीत करने के लिए उस काल के रंगमंच पर भड़ैती और मसखरेपन की बहुत आवश्यकता थी। हम उन्हें 'राजा बसंत राय' नाटक में प्रतापदित्य की भूमिका और 'प्रफुल्ल' नाटक में जोगेश की भूमिका के लिए भी बहुत प्रशंसा प्राप्त करते हुए देखते हैं। शिशिर भादुड़ी ने तो यहां तक कहा है कि "एक चरित्र अभिनेता के रूप में वे गिरीश घोष से श्रेष्ठ थे। जब वे उसी नाटक में अपनी वेशभूषा, रूप-सज्जा, चाल-ढाल और आवाज बदल लेते थे तो यह अनुमान लगाना संभव नहीं हुआ करता था कि अर्धेन्दु मुस्तफी ही विभिन्न भूमिकाएं कर रहे थे।"[2]

सन् 1895 में क्रिसमस दिन के अवसर पर 'नीलदर्पण' का प्रदर्शन होने के बाद इमेराल्ड थिएटर बंद हो गया। अगले छह वर्षों के लिए अर्धेन्दु मुस्तफी अनेक छोटी-छोटी अंतरावधियों में मिनर्वा के साथ थे। इस काल में उन्होंने अव्यवसायी नाटक मंडलियों को अपना बहुत समय दिया—उन्हें सिखाया, समझाया, अभिनय किया या प्रासंगिक प्रदर्शनों के लिए उनकी अन्य प्रकार से सहायता की। ये

1. आर० मित्र तथा डी० के० वसु द्वारा लिखित 'शिशिर सान्निध्ये', पृ० 47.
2. शंकर भट्टाचार्य द्वारा लिखित 'अर्धेन्दु शेखर ओ बांगला थिएटर', पृ० 177.

मंडलियां, जिनकी संख्या बढ़ती जा रही थी, अल्पजीवी थीं, किंतु उन्होंने बंगालियों में 'नाटक देखने' की आदत पैदा की। इस बीच, अर्धेन्दु मुस्तफी कुछ समय के लिए 'अरोरा' थिएटर में थे और वे सन् 1903 में 'स्टार' में चले गए। सितंबर, 1904 में उन्होंने उसे छोड़ दिया और 'मिनर्वा' में चले गए जहां वे आन्तरायिक रूप से सन् 1908 तक रहे। आजीवन शराबखोरी, निद्रा के अभाव और आरोग्य के प्रारंभिक नियमों की उपेक्षा ने आखिरकार उनके स्वास्थ्य को खराब कर दिया। किंतु उन्होंने आसानी से हार नहीं मानी और कोई भी बात उन्हें रंगमंच से अलग नहीं कर सकी। जुलाई, 1908 में उन्होंने 'मिनर्वा' को छोड़ दिया और 'कोहिनूर थिएटर' में चले गए। 7 अगस्त को, जो कि एक रविवार था, उन्हें 'प्रफुल्ल' नाटक में जोगेश की भूमिका और दीनबंधु मैत्र के नाटक 'नवीन तपस्विनी' में जलधर की भूमिका करनी थी। वे बहुत बीमार थे और वे अपने प्रवेश की प्रतीक्षा करते हुए खड़े रहने की स्थिति में नहीं थे। उन्होंने अपना कार्य किया और अंत में गिर पड़े। उन्हें एक मित्र के घर ले जाया गया, जहां उनसठ वर्ष की आयु में 17 सितंबर, 1908 को उनकी मृत्यु हो गई।

विभिन्न सामाजिक-आर्थिक कारणों तथा अनेक उत्कृष्ट व्यक्तियों के निष्ठापूर्ण कार्य के फलस्वरूप रंगमंच वाणिज्यिक दृष्टि से जीवनक्षम हो गया यद्यपि यह धारणा मूलतः विदेशी थी। इस पुस्तक की सीमित व्याप्ति के भीतर उनके योगदान का वर्णन करना, या उनका उल्लेख करना भी संभव नहीं है। किंतु आरंभिक काल के किसी भी वृत्तांत में, चाहे वह कितना भी संक्षिप्त क्यों न हो, विनोदिनी दासी को नहीं भुलाया जा सकता, जो कि एक महान अभिनेत्री और उल्लेखनीय महिला थीं।

अपने काल की अधिकांश अन्य अभिनेत्रियों की भांति विनोदिनी दासी उत्तर कलकत्ता की वेश्याओं की बस्ती से आई थीं। वे एक अनुपम बालिका थीं। जिस गायक के पास वे पाठ सीखने जाया करती थीं उन्होंने उन्हें एक रंगशाला में नौकरी दिला दी। वे 'ग्रेट नेशनल' में 10 रु० के मासिक वेतन पर सम्मिलित हुईं। उस समय वे ग्यारह या बारह वर्ष की थीं।

विनोदिनी एक महत्त्वकांक्षी बालिका थीं। वे सीखने की इच्छुक थीं और सीखने में तेज थीं। उस सुकोमल आयु में भी उन्होंने अपनी नैसर्गिक प्रतिभा को विकसित करने के लिए अथक परिश्रम किया। जब वे पंद्रह वर्ष की थीं तो गिरीश घोष ने उन्हें अपने आश्रय में ले लिया। विनोदिनी ने कोई औपचारिक शिक्षा नहीं पाई थी किंतु उन्होंने उल्लेखनीय प्रवीणता प्राप्त कर ली। उनके पास अंग्रेज अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों और अंग्रेजी नाटकों संबंधी जानकारी का आश्चर्यजनक संग्रह था। बीस वर्ष की आयु होने तक वे शीर्षस्थ अभिनेत्री बन गईं और उन्हें अंग्रेजी समाचार-पत्रों में 'देशी रंगमंच का पुष्प', 'बंगला रंगमंच की प्रधान

अभिनेत्री', 'सायोनारा' आदि कहा जाने लगा। सुकुमारी दत्त, कुसुम कुमारी, क्षेत्रमणि तथा अन्य अधिक अनुभवी तथा ज्येष्ठ अभिनेत्रियों के रहते यह आरोहण सरल नहीं था। जिस दिन से स्टार थिएटर आरंभ हुआ था उसी दिन से वे उससे संबद्ध रहीं। साहचर्य का यह काल संघर्ष और विजय एवं निराशा की कहानियों से परिपूर्ण था और इसी काल में उनकी प्रसिद्धि सतत बढ़ी। उन्होंने धन और सुखमय भावी जीवन की चिंता नहीं की ताकि स्टार की उसकी अपनी नाट्यशाला हो। दिसंबर, 1886 में, जब वे अपनी ख्याति के शिखर पर थीं, वे रंगमंच से निवृत्त हो गईं। इस समय वे केवल चौबीस वर्ष की थीं।

बारह वर्षों के अपने अल्पकाल में विनोदिनी ने लगभग पचास विभिन्न नाटकों में साठ से भी अधिक भिन्न-भिन्न भूमिकाएं कीं। वंकिम चंद्र चटर्जी, 'लाइट आफ एशिया' के लेखक एडविन अर्नोल्ड, थियोसाफिस्ट कर्नल अल्काट जैसे विख्यात व्यक्तियों ने और अन्य लोगों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। गिरीश घोष का मार्गदर्शन पाकर किंतु मुख्यत: अपने अन्तश्चेतनात्मक अवबोध तथा अथक प्रयासों द्वारा विनोदिनी ने एक प्रकार से अपनी स्वयं की अभिनय-प्रणाली विकसित कर ली थी और वे उन विभिन्न चरित्रों के साथ तदाकार हो जाती थीं जिनका अभिनय वे करती थीं। तथापि पौराणिक तथा भक्तिपूर्ण भूमिकाओं में उनका अभिनय उत्कृष्ट हुआ करता था। एक अभिनेत्री के रूप में गिरीश घोष के नाटक 'चैतन्य-लीला' में उनके द्वारा अभिनीत चैतन्य की भूमिका उनके भव्य नाट्य-जीवन का उच्चांक था। रामकृष्ण परमहंस उन्हें इस भूमिका में देखने आए थे और बाद में उन्होंने उन्हें आशीर्वाद दिया था। निश्चित रूप से यह ज्ञात नहीं हो सका है कि इतनी कम आयु में उन्होंने अभिनय करना क्यों छोड़ दिया। सन् 1941 में वे परलोक सिधारीं।

उस काल के बंगला रंगमंच के संबंध में जो थोड़ी-बहुत पुस्तकें उपलब्ध हैं उनमें विनोदिनी दासी की आत्मकथा 'आमार कथा' तथा अपूर्ण धारावाहिक रचना 'आमार अभिनेत्री जीवन' मूल्यवान हैं। उनके साहित्यिक मूल्य पर विचार न किया जाए तो भी उनमें प्रारंभिक निर्माण काल में बंगला रंगमंच का जो वाता-वरण था तथा कार्यकरण की जो स्थिति थी उसका विशद विवरण मिलता है। तथापि, अन्य व्यक्तियों ने उनके बारे में क्या कहा या क्या लिखा इस पर उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा है। उन्होंने 'रईस एंड रैयत' के संपादक शंभ चरण मुखर्जी द्वारा की गई एक समीक्षा को ही उद्धृत किया है। उनका एक दोहरी भूमिका वाला नाटक देखने के बाद उन्होंने अपने पत्र में लिखा : "वे भारत में अपने व्यवसाय के सर्वथा शीर्ष स्थान पर हैं···। बुधवार को उन्होंने दो बिलकुल भिन्न तथा बहुत विपरीत भूमिकाएं कीं और दोनों के साथ पूरा-पूरा न्याय किया। उनके द्वारा अभिनीत मिसेज विलासिनी कारफर्मा में, जो कि एक ग्रेजुएट लड़की थी, उन्होंने

अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लड़की की विचित्रता का, जैसाकि वह बंगाली समाज में दिखाई देती है, अत्यंत कुशलतापूर्वक अभिनय किया। उनके द्वारा अभिनीत चैतन्य की भूमिका एक महानतम धार्मिक चरित्र के प्रभावशाली व्यक्तित्व को निपुणतापूर्वक प्रदर्शित करती थी।"

विनोदिनी की नाट्यकला पर लिखित समकालीन टीका-टिप्पणियां बहुत कम हैं। एक है गिरीश घोष द्वारा लिखित आमुख जो उन्होंने 'आमार कथा' के लिए लिखा था। इसमें उन्होंने उनके व्याप्ति-क्षेत्र और वेशभूषा तथा रूपसज्जा के प्रति उनकी जागरूकता के अनेक उदाहरण दिए हैं। उन्होंने यह भी लिखा : "मैं स्पष्टत: कहता हूं कि अभिनय के क्षेत्र में उनकी जो उपलब्धि थी उसका श्रेय मेरे प्रशिक्षण से कहीं अधिक उनके स्वयं के गुणों को है।" उस काल के एक लोकप्रिय साप्ताहिक पत्र 'रूप ओ रंग' के एक संपादकीय लेख को विनोदिनी के लेखन की उत्कृष्ट प्रस्तावना में उद्धृत किया गया है, जो कि सद्य: नवीन संस्करण में प्रकाशित हुआ है।[1] उनके रंगमंच से निवृत्त हो जाने के वर्षों बाद पत्रिका ने लिखा : "उन्होंने अनेक नाटकों, संगीत नाटकों और प्रहसनों में अभिनय किया। उनके बाद अनेक प्रतिभाशाली अभिनेत्रियों ने वे भूमिकाएं की हैं। किन्तु कोई भी उनसे आगे न बढ़ सकी···। उनमें रूपसज्जा की उल्लेखनीय योग्यता थी···। विनोदिनी ने उसे अंग्रेजी रंगमंच तथा अनेक देशों की चित्रकारी विषयक पुस्तकें पढ़कर सीखा।" उनकी स्वयं की रचनाओं से, जिनमें कविताओं की दो पुस्तकें सम्मिलित हैं, हम एक अत्यंत संवेदनशील, दृढ़संकल्प तथा भावुक नारी का चित्र पाते हैं। जीवन और समाज के प्रति कड़ुवाहट रखने के लिए उनके पास पर्याप्त कारण थे। किन्तु उनके लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे विद्वेष से उल्लेखनीय रूप से विहीन थीं।

बंगला रंगमंच के प्रथम चार दशकों में गिरीश घोष, अर्धेन्दु मुस्तफी तथा अमृतलाल बसु उस पर छाए हुए थे। उनके प्रभुत्व को जिसने ललकारा वे विचल विद्रोही अमरेन्द्र दत्त थे। वे एक ऐसे परिवार में जन्मे थे जिसे शास्त्रीयता से लगाव था। वे रंगमंच के क्षेत्र में एक अत्यधिक अनपेक्षित आक्रामक थे। अव्यवसायी प्रदर्शन में कुछ समय तक रहने के पश्चात् उन्होंने इमेराल्ड थिएटर को किराए पर ले लिया और सन् 1897 में अपना क्लासिक थिएटर आरंभ किया। थोड़े ही समय में उन्होंने उसे नगर की सर्वाधिक लोकप्रिय रंगशाला बना दिया।

अमरेन्द्र दत्त का आविर्भाव एक ऐसे काल में हुआ था जब औसत नाटक-दर्शक गिरीश घोष के भारी-भरकम नाटकों से उकताने लगे थे। अमरेन्द्र ने जनता

1. विनोदिनी दासी द्वारा लिखित 'आमार कथा ओ अन्यान्य रचना'।

के मनोभाव को पहचाना और उन्हें वह मनोरंजन दिया जिसके वे भूखे थे। युवक, ओजस्वी और परिणामों के प्रति लापरवाह होने के कारण उन्होंने 'क्लासिक' को रंगरेलियों और तमाशों का एक निरापद स्थान बना दिया। यदि अपने क्लासिक थिएटर को शहर का सर्वाधिकलोकप्रिय थिएटर बनाने में अमरेन्द्र ने ऐसे साधनों को अपनाया जो कि न तो शास्त्रीय थे और न नैतिकतापूर्ण, इसकी किसे परवाह थी ? स्वयं अमरेन्द्र को तो कतई परवाह नहीं थी। उन्होंने प्रतिद्वंद्वी रंगशालाओं की निंदा करने वाले विज्ञापन बांटे, आकर्षक नारे बनाए और टिकट खरीदने वाले को उपहार दिए। इसे वे सतत संवर्धन अभियान कहते थे। यह देखकर आश्चर्य होता है कि एक ऐसे व्यक्ति को, जिसका साहित्यानुराग वंशागत और संवर्धित था, और इसके अतिरिक्त जिसने 'सौरभ', 'रंगालय' तथा 'नाट्य-मंदिर' जैसी रंगमंच को समर्पित गंभीर पत्रिकाओं के प्रकाशन तथा संपादन में मार्गदर्शी कार्य किया था, अपने प्रतिद्वंद्वियों पर अनुचित प्रहार करते हुए और ऐसी दूसरी हरकतें करते हुए, जिन्हें उस जमाने में भी नापसंद किया गया था, कोई पछतावा नहीं हुआ।

अमरेन्द्र दत्त का सरोकार केवल उन लोगों मे था जो टिकट खरीद कर नाटक देखते थे। वे ऐसे लोगों को 'क्लासिक' की ओर आकृष्ट करने में सफल हुए, केवल विज्ञापन प्रणालियों द्वारा ही नहीं। जनता से प्राप्त धन के बदले वे उसे भलीभांति चुने गए नाटकों के नावीन्यपूर्ण प्रदर्शनों के माध्यम से नाट्यकला का आस्वादन कराते थे। रंगशाला को 'व्यावसायिक' स्थिति प्राप्त हो जाने के लगभग पचीस वर्ष बाद रंगमंच क्षेत्र में आने वाला यह व्यक्ति रंगमंच का सर्वप्रथम 'सुधारक' था। उन्होंने पार्श्व दृश्यों को व्यवस्थित रूप देने, मंचाग्र यवनिका का उपयोग करने, साजसज्जा की वस्तुओं को प्रकाशित करने के लिए स्पाट लाइट का उपयोग करने जैसे सुधार किए। अपने नवाचारों द्वारा अमरेन्द्र दत्त ने उन कुछ दोषों को दूर किया, जिनके बारे में सन् 1885 में देखे गए एक नाटक का प्रत्यास्मरण करते हुए सर एडविन अर्नाल्ड ने लिखा था कि "रंगमंच का साज-सामान इतना कम था कि लंदन की किसी रंगशाला के प्रबंधक को विश्वास नहीं होगा और कभी-कभी सजावट इतनी सादी हुआ करती थी कि हंसी आती थी।"[1] अमरेन्द्र उन व्यक्तियों के प्रतिनिधि थे जो पुरानी बातों को अपदस्थ करने की भरपूर कोशिश कर रहे थे। उनमें ऐसे रूढ़िद्रोह के पर्याप्त गुण थे—उनमें दर्शकों की प्रतिक्रिया को आंकने और पूर्वानुमानित करने की योग्यता थी, उपयुक्त नाटकों को चुनने का अंतर्बोध था, जोखिम उठाने और रूढ़ियों को ललकारने की तत्परता थी किंतु साथ ही टेढ़ी-मेढ़ी बातें कहने और समझौता करने की भी

1. एच० एन० दासगुप्त द्वारा लिखित 'दि इंडियन स्टेज', खंड तीन, पृ० 70.

उतनी ही तत्परता थी। उन्होंने गिरीश घोष के एक पौराणिक नाटक को लेकर कार्यारंभ किया और उसके बाद अनेक गंभीर नाटक प्रदर्शित किए, जिनमें हैमलेट का बंगला रूपांतरण 'हरिराज' नामक नाटक और रवीन्द्रनाथ का नाटक 'राजा ओ रानी' शामिल थे।

सन् 1897 में 'हरिराज' को प्राप्त हुई सफलता और चार वर्ष पूर्व मिनर्वा में प्रदर्शित 'मैकबेथ' की असफलता, शेक्सपीयर के नाटकों के प्रति बंगाली दर्शकों की अभिवृत्ति और साथ ही अमरेन्द्र दत्त की उसे समझने की चातुरी को प्रकट करती है। दर्शक चाहे शिक्षित रहे हों या अशिक्षित, उन्होंने तब या आगे चलकर शेक्सपीयर के नाटकों के अनुवाद को कभी भी पसंद नहीं किया था। वस्तुत: 'मैकबेथ' के बाद सन् 1919 तक, जब 'ओथेलो' का एक अनुवाद 'स्टार' में मंचित किया गया, कोई भी अनुवाद मंचित नहीं किया गया। एच० एन० दासगुप्त अपने ग्रंथ में लिखते हैं, "पहली रात्रि में बिक्री ठीक थी लेकिन दूसरी रात्रि से निरंतर कम होती गई।"[1] उसका प्रदर्शन शीघ्र बंद कर दिया गया। शिशिर भादुड़ी तक ने व्यावसायिक रंगमंच में व्यतीत हुए तीस वर्षों में शेक्सपीयर का एक भी नाटक प्रदर्शित नहीं किया। अमरेन्द्र दत्त ने यह भांप लिया कि जब तक विदेशी नाटकों को देशी नामों, स्थानों, चरित्रों तथा परिस्थितियों में रूपांतरित करते हुए प्रस्तुत नहीं किया जाता —जब तक कि वे स्वैर रूपांतरण न हों—शेक्सपीयर या किसी भी विदेशी नाटककार को दर्शक पसंद नहीं करेंगे। समग्रतः उनकी दूरदर्शिता आज भी स्वीकार की जाती है। तथापि, वे इतने समझदार थे कि उन्होंने 'हरिराज' की सफलता के बाद अनेक वर्षों तक शेक्सपीयर के किसी भी नाटक को नहीं आजमाया। दिसंबर, 1915 में उन्होंने 'दि मर्चेंट आफ वेनिस' का रूपांतरण 'सौदागर' प्रस्तुत किया जो कि संयोगवश वह अंतिम नाटक था, जिसमें उन्होंने 6 जनवरी 1916 को अपनी मृत्यु होने के पूर्व, अभिनय किया।

'हरिराज' और 'राजा ओ रानी' दोनों ही नाटकों को मामूली सफलता मिली। तथापि, अगले नाटक क्षरोद प्रसाद विद्याविनोद के 'अलीबाबा' से उन्होंने बहुत धन कमाया। उन्होंने अभिनेताओं को रंगबिरंगे वस्त्रों से सजाया और गीतों तथा नृत्यों की गति तीव्र रखी। 'अलीबाबा' से अमरेन्द्र को इतना धन मिला कि वे अपने अभिनेताओं को अधिक वेतन दे सके और अन्य अभिनेताओं को अपनी रंगशाला में आने के लिए राजी कर सके। गिरीश घोष आए, गए और फिर आए। यही अन्य मंडलियों से आए प्रमुख अभिनेताओं ने किया, जिससे 'क्लासिक' की समृद्धि बढ़ी। किंतु जब उन्होंने सन् 1903 में मिनर्वा को लिया

1. वही, खंड चार, पृ० 177.

तो उन्होंने स्वयं को प्रवंचित किया। वे कर्ज से लद गए और उन्हें न केवल मिनर्वा को छोड़ देना पड़ा बल्कि बढ़ते हुए खर्च और मुकदमेबाजी की बाढ़ में क्लासिक में लगाया हुआ धन गंवा बैठे। उन्हें मई, 1906 में क्लासिक को छोड़ देना पड़ा।

अमरेन्द्र दत्त ने रंगमंचीय प्रदर्शनों में कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन किए और उन्हें आकर्षक बनाया। किंतु यथार्थवाद के प्रति उनके उत्साह में उन्हें इस बात का अहसास नहीं हुआ कि मंच पर बेतरतीब ढंग से सामान रखकर या जब कोई पात्र किसी जलाशय में कूदता था तो पानी उछालकर वे रंगमंचीय यथार्थवाद को बढ़ा नहीं रहे थे बल्कि उसमें भद्दापन ला रहे थे। न ही वे यह समझ पाए कि प्रचार के भद्दे तरीके आखिरकार हानिकारक थे। उनके पास नाटक प्रस्तुत करने की निर्देशात्मक संकल्पना नहीं थी, जिसके बिना उनके सुधार किसी भद्दी चीज को हटाने या कुछ क्रियात्मक सुविधाओं का सूत्रपात करने से अधिक कुछ भी नहीं थे। अंततः, उनकी व्यक्तिगत आदतों में और साथ ही नाट्यशाला में उनके प्रबंध में अनुशासन के अभाव से यह स्पष्ट हो जाता था कि 'नवीन' के लिए उनके संपूर्ण विद्रोहात्मक उत्साह के बावजूद वे वास्तविक मुद्दों को समझा नहीं पाते थे—उन्हें पकड़ पाने की बात तो दूर ही रही। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अमरेन्द्र के सुधार थोड़े ही समय तक टिके रहे और वे बंगला रंगमंच को उस ढर्रे से उबार न सके जिसमें वह फंसा हुआ था। उनकी मृत्यु के छह वर्ष बाद कोई अन्य व्यक्ति सामने आया और उसने यह कार्य अपने हाथ में लिया।

8

डी० एल० राय तथा क्षीरोद प्रसाद

नाटकों में तथा रंगमंच पर प्रदर्शित राष्ट्रीय भावनाएं पूर्वतर काल की धार्मिक भावुकता से बहुत भिन्न नहीं थीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ नई विभूतियों और नायकों का प्रादुर्भाव हुआ और एक नई मानसिक अवस्था का आविर्भाव हुआ। किंतु आधारभूत विषय-वस्तु, पहले की ही भांति, भूतकाल की प्रशस्ति थी। राणा प्रताप, सिराजुद्दौला, प्रतापदित्य जैसे ऐतिहासिक व्यक्तियों ने राम, प्रह्लाद, बुद्ध और चैतन्य जैसी पौराणिक विभूतियों का स्थान ले लिया। गिरीश घोष ने इस परिवर्तन की भरसक अनुक्रिया की। जिस नाटककार ने राष्ट्रवाद को साकार किया वे थे डी० एल० राय।

डी० एल० राय एक कवि और संगीतकार थे। उन्हें हास्यपूर्ण तथा व्यंग्यपूर्ण कविता में रुचि थी। उन्हें बाल्यकाल से ही साहित्य, संगीत और नाट्य साहित्य से बहुत लगाव था। इंग्लैंड में रहने के दौरान उन्होंने उसे विकसित किया जहां उन्होंने पश्चिमी संगीत सीखा और नियमित रूप से नाटक देखने जाया करते थे। वे वहां सन् 1884 में गए थे। तीन वर्ष बाद वहां से लौटने पर उन्हें विदेश यात्रा पर लगाई गई मनाही को न मानने के कारण सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ा। वे बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने हिंदू रूढ़िवाद पर प्रखर प्रहार करते हुए एक व्यंग्य रचना लिखी। उनका पहला नाटक 'कल्कि अवतार', जो कि उन्होंने सन् 1893 में लिखा था, एक ऐसा प्रहसन है जिसमें इस बार हिंदू समाज के सभी वर्गों पर प्रहार किया गया था और हिंदू धर्मग्रंथों पर व्यंग्य किया गया था। उन्होंने अनेक अन्य सुखांत नाटक लिखे जिनमें उन्होंने कट्टरपंथी हिंदुओं और अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त सुधारवादियों— दोनों का ही मखौल उड़ाया था। उन्होंने कुछ पौराणिक नाटक और एक या दो सामाजिक नाटक भी लिखे। किंतु एक नाटककार के रूप में उनकी ख्याति उनके ऐतिहासिक नाटकों के कारण है।

अपने अधिकांश ऐसे नाटकों के लिए उन्होंने राजपूतों तथा मुगल बादशाहों को अपने नायकों के रूप में लिया। उनके पूर्ववर्ती नाटककारों ने भी, जिनमें गिरीश घोष भी शामिल थे, यही किया था। किंतु डी० एल० राय उनसे अनेक दृष्टि-

कोणों से भिन्न थे। प्रथमतः और प्राथमिक रूप से वे अपने मानवतावादी और धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण में भिन्न थे। उनके नाटकों में धार्मिक पुनरुत्थान और आध्यात्मिक उद्धार पर बल नहीं दिया गया है, बल्कि मानवीय कर्म तथा मानव की नियति पर विश्वास व्यक्त किया गया है। डी० एल० राय राष्ट्रवादी स्वदेशी आंदोलन से बहुत प्रभावित हुए थे किंतु यूरोपीय विचारधारा के बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण वे अपने देशवासियों की त्रुटियों की अनदेखी न कर सके। वस्तुतः वे उनके बड़े आलोचक थे और उन्होंने व्यंग्य लिखने की अपनी नैसर्गिक प्रतिभा का उपभोग उनके विचारों की संकीर्णता और उनके जीवन की क्षुद्रता पर प्रहार करने में किया। पीड़ित तथा शोषित नारीत्व को गरिमामय बताते हुए चित्रित करने के प्रति उनकी अस्वीकृति पूर्वतर नाटकों की तुलना में एक नया परिवर्तन थी। वे उन आरंभिकतम राष्ट्रवादियों में से एक थे जिन्होंने यह उद्घोषित किया कि राष्ट्रवाद पर्याप्त नहीं था। आवश्यकता इस बात की थी कि राष्ट्रीय चरित्र का पुनरुत्थान हो। उनके दूसरे ऐतिहासिक नाटक 'प्रताप सिंह' (सन् 1905) में अकबर के सेनापतियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध सेनापति मानसिंह ग्वालियर-नरेश से कहता है : 'स्वतंत्रता, महाराज ? यदि हममें कोई राष्ट्रीय जीवन होता तो हम स्वतंत्रता की बात कर सकते थे। हमने वह जीवन वर्षों पहले खो दिया।" 'मेवाड़ पतन' में गरिमामय राजपूत नारी मानसी कहती है : "देशभक्ति हमारे जीवन से श्रेष्ठ है। किंतु मानवता देशभक्ति से भी श्रेष्ठ है।"

द्वितीयतः, डी० एल० राय ने ज्योतीन्द्र नाथ ठाकुर या उनके समकालीन क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद की तुलना में ऐतिहासिक तथ्यों के मामले में अधिक स्वतंत्रता नहीं बरती। इसके अतिरिक्त उनके चरित्र जटिल मानव प्राणी हैं जो कि विपरीत मनोवैज्ञानिक खिंचावों से प्रभावित होते हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक में चाणक्य एक षड्यंत्रकारी है, सत्ता प्राप्त करने में निर्मम है और अपनी योजनाओं को क्रियान्वित करने में निर्दय है। किंतु वह एक दृष्टा भी है और प्रेम का भूखा है। इसी प्रकार 'शाहजहां' में मुगल बादशाह अपने युद्धरत पुत्रों के प्रति प्रेम और सल्तनत को जीवित रखने की अपनी व्यग्रता के बीच विभक्त पाया जाता है।

तृतीयतः, डी० एल० राय को रंगमंच का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने अपने नाटकों की संरचना और नाटकीय सुसंगतियों में नवीनता का परिचय दिया।

अंततः, उनके नाटकों की भाषा में एक साहित्यिक लालित्य तथा आलंकारिक प्रवाह था जिसके कारण उनके ऐतिहासिक नाटकों में वह वरेण्यता थी जो पूर्वतर तथा समकालीन नाटककारों की रचनाओं में नहीं पाई जाती। उन्होंने स्वयं के एक पद्यात्मक गद्य का विकास किया जिसे बंगाली विद्वज्जनों ने पसंद किया और उससे उनके ऐतिहासिक चरित्र गरिमामय हो गए। बादशाह जहांगीर की शक्ति-

शाली बेगम पर लिखे गए नाटक 'नूरजहां' में नूरजहां दुःखांत चरम बिन्दु के निकट कहती है : "हम सब लोग नियति के हाथों में खिलौनों जैसे हैं। कभी वह किसी को दुलारती है और अपनी गोद में ले लेती है और दूसरे ही क्षण उसे निर्मम उपेक्षा से फेंक देती है···। नियति का राज्य एक विशाल कारखाने जैसा है। मनुष्यों का सुख-दुःख उसमें से निकलने वाली चिनगारियों और धुएं जैसा है।"[1] चंद्रगुप्त को संगठन करने और विद्रोह करने के लिए उत्तेजित कर चाणक्य पहले तो ब्राह्मण जाति की दीनहीन दशा पर शोक प्रकट करता है और फिर कहता है : "फिर भी विश्व का अंत होने के पूर्व कलियुग का यह ब्राह्मण बारह सूर्यों की प्रचंडता से आकाश को जला देगा···। ईंधन तैयार करो चंद्रगुप्त, मैं उसे अपने ब्रह्म प्रकोप से प्रज्ज्वलित करूंगा। यह अग्नि दावानल की भांति फैलेगी। संपूर्ण भारत जल उठेगा।"[2] आगे चलकर, जब चाणक्य की महत्त्वाकांक्षा पूर्ण हो जाती है तो वह कहता है : "सत्ता प्रेम का स्थान कदापि नहीं ले सकती। हमारी सभी आकांक्षाएं, जो हमारे हृदय में संचित रहती हैं, आग बनकर निकलती हैं और राख बनकर रह जाती हैं।"[3] डी० एल० राय ने अपने छह प्रमुख ऐतिहासिक नाटक सन् 1905 में 'प्रताप सिंह' से शुरू करके 'चंद्रगुप्त' सन् 1911 में लिखा। संयोगवश, ये वे वर्ष थे जब बंगाल विभक्त था। सन् 1913 में पचास वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हो गई।

बंगला नाट्य साहित्य के इतिहासकार डी० एल० राय को प्रथम 'आधुनिक' नाटककार मानते हैं। उनके जीवनीकार देवकुमार राय चौधरी गिरीश घोष को यह कहता हुए उद्धृत करते हैं कि डी० एल० राय इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों तक सुप्रसिद्ध हो गए थे तथापि यह बात आश्चर्यजनक है कि उनके जीवन-काल में उनके बहुत थोड़े नाटकों का प्रदर्शन हुआ था। नाटक 'ताराबाई' सन् 1903 में केवल कुछ रात चला। नाटक 'प्रताप सिंह' उसके प्रकाशन के वर्ष में 'मिनर्वा' तथा 'स्टार' में एक साथ प्रदर्शित हुआ। किंतु अगले छह या सात वर्षों में, जब उन्होंने अपने अधिकांश नाटक लिखे, दो या तीन से अधिक नाटकों का प्रदर्शन नहीं हुआ। उनके दो नाटक 'शाहजहां' तथा 'चंद्रगुप्त', जिन्हें उनके सर्वोत्तम नाटक माना जाता है, केवल तीसरे और चौथे दशक में लोकप्रिय हुए। स्पष्टतः न तो उनके नाटकों की आधुनिकता से और न धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रवाद से दर्शकों की अनुकूलित प्रतिक्रिया या मालिकों का 'बचकर चलो' वाला वाणिज्य-वाद अभिभूत हो सका।

1. अनुवाद।
2. अनुवाद।
3. अनुवाद।

इस दृष्टि से क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद अधिक भाग्यशाली थे। उन्होंने विविध कथा-प्रसंगों और विषयों पर अनेक नाटक लिखे। उनका आरंभिक नाटक 'प्रतापदित्य', जो कि इतिहास के बजाय रोमांस अधिक था, सन् 1903 में लिखा गया और अभिनीत हुआ। वह जनता में लोकप्रिय हुआ। उसी वर्ष उन्होंने 'रघुवीर' लिखा, जो उस समय सफल नहीं हुआ किंतु वह उनके सुप्रसिद्ध नाटक 'आलमगीर' की भांति, जो कि अठारह वर्ष बाद लिखा गया था, तीसरे दशक में लोकप्रिय हुआ और उस दशक के प्रसिद्ध अभिनेताओं की प्रसिद्धि का माध्यम सिद्ध हुआ। नाटक 'आलमगीर' अंतिम महान मुगल बादशाह औरंगजेब पर लिखा गया उपाख्यानिक नाटक था। उसमें बादशाह वैसा धर्मांध नहीं था जैसा कि उसे कल्पित किया जाता है, बल्कि एक ऐसा दुःखी व्यक्ति था जो कि शक्तिशाली भी था और असहाय भी था, शंकालु था किंतु कार्रवाई करने में दृढ़ था। 'प्रतापदित्य' को छोड़, वे नाटक जिनके कारण वे आरंभिक वर्षों में लोकप्रिय हुए, 'अलीबाबा' जैसे संगीत नाटक थे। इन संगीतमय रोमांसों के गीत, नृत्य तथा कोलाहलपूर्ण हास्य-विनोद को दर्शकों ने बहुत पसंद किया। एक ओर तो वे संदेशों के प्रचार से बचे रहे और दूसरी ओर घटिया हास्य-विनोद और भद्दे मसखरेपन से बचे रहे।

क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद ने भी हिंदू महाकाव्यों तथा कथा-प्रसंगों से लिए गए चरित्रों पर अनेक नाटक लिखे। वे अपने नाटकों की भाषा को उनके संदर्भों के अनुकूल बनाने में बहुत-कुछ सफल हुए और उन्होंने कई प्रकार के संवाद-प्रतिरूपों तथा छंदों को आजमाया। उनकी नाटकीय भाषा डी० एल० राय की भाषा की अपेक्षा कम आलंकारिक थी और गिरीश घोष की भाषा से कम घुमावदार थी। उनके नाटकों की तुलनात्मक लोकप्रियता का यह भी एक कारण था।

9

रंगशाला, सन् 1872-1912

बंगला व्यावसायिक रंगमंच के जीवन के चालीसवें वर्ष में गिरीश घोष की मृत्यु हो गई। बिना किसी नाट्यशाला के छोटे-मोटे प्रयास करते हुए रंगमंच बंगाली भद्र लोगों के मनोरंजन का प्रधान साधन बन गया था। यह काल कलकत्ता की विस्फोटक वृद्धि का भी एक काल था। शताब्दी के मोड़ तक, जनसंख्या दस लाख से भी अधिक हो गई थी और केवल बीस वर्षों में दुगनी हो गई थी। नौकरी के अवसरों, निर्माण-कार्यों, व्यापार और वाणिज्य से आकृष्ट होकर लोग यहां उमड़ पड़े। कोयले और इस्पात की खोज से हुगली नदी के दोनों तटों पर जूट उद्योग और इंजीनियरी उद्योग स्थापित हो गए थे। नवें दशक तक नदी के दोनों तटों के किनारे-किनारे लगभग चालीस मील तक फैली हुई बस्तियों के साथ, जिनके तंत्रिका-केन्द्र और धमनीय सिरे कलकत्ता में थे, अनेक उपनगर पनप चुके थे। आयात और निर्यात व्यापार के आंकड़ों से वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। सारे बंगाल के लिए (जिसमें पूर्वी बंगाल और बंगला देश भी शामिल था) ऐसे व्यापार का मूल्य 2 करोड़ 90 लाख पौंड था। सन् 1901 में केवल कलकत्ता से संबद्ध यह व्यापार 1 करोड़ 10 लाख पौंड तक बढ़ गया था। सन् 1857 की क्रांति के बाद अंग्रेजों द्वारा प्रत्यक्षत: प्रभुत्व पा लेने के पूर्व कलकत्ता के प्रशासन के लिए एक कमिश्नर हुआ करता था। सन् 1863 में एक सांविधिक नगरपालिका ने उसके कार्य को अपने हाथों में ले लिया। उस समय तक कलकत्ता में पक्की और गैसलाइट से प्रकाशित सड़कें बन चुकी थीं, जिनके अगल-बगल पैदल चलने वाले लोगों के लिए फुटपाथ बन चुके थे—जिन्हें कि आज पैदल मार्ग कहा जाता है। आठवें दशक में नलों से पानी मिलने लगा और भूमिगत नालियों की शुरुआत हुई। सन् 1880 में घोड़ों द्वारा खींची जाने वाली ट्रामें आईं और सन् 1882 में टेलीफोन तंत्र की स्थापना हुई। दसवें दशक में नागरिक सुख-सुविधाएं, जो कि आरंभ में शहर के दक्षिणी भागों तक ही सीमित थी जहां अंग्रेज लोग रहा करते थे, केंद्रीय तथा उत्तर कलकत्ता को भी उपलब्ध कराई गईं, जहां निर्धन और धनी बंगाली लोग रहा करते थे।

सन् 1905 में लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल का विभाजन किए जाने तक



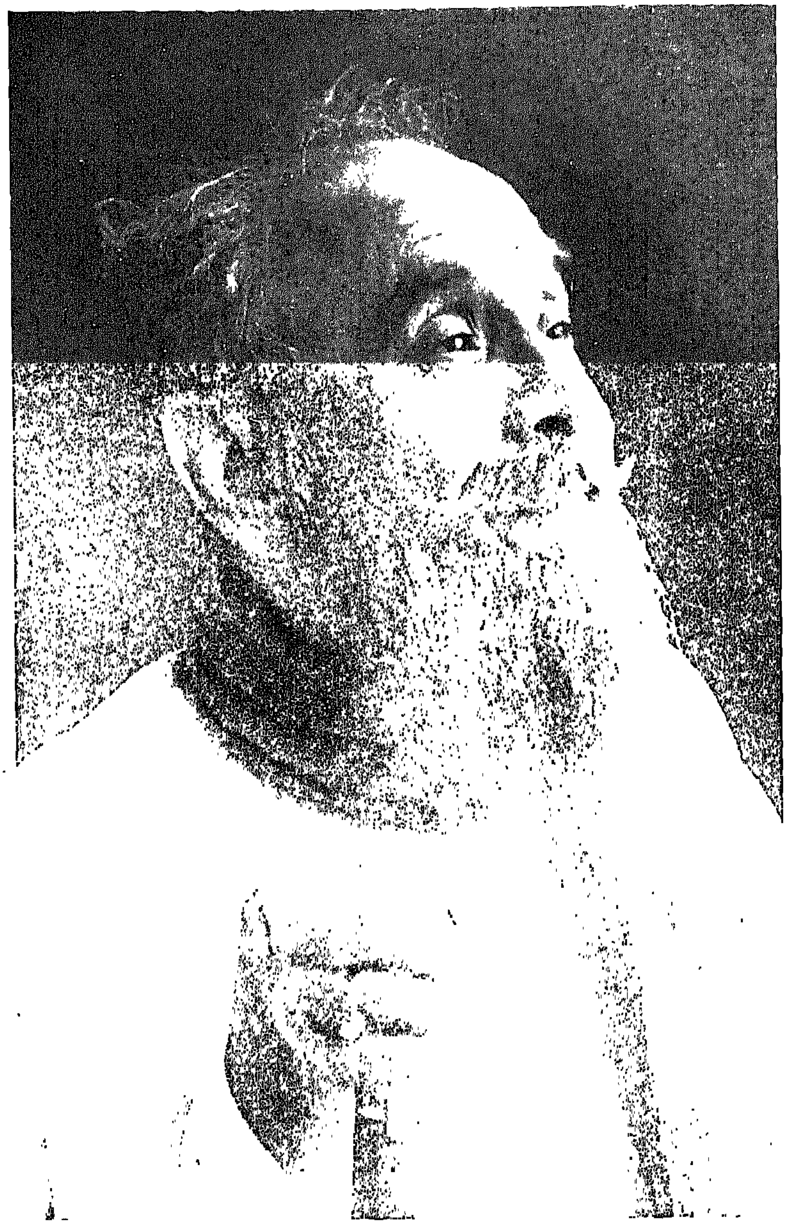
चौरंगी थियेटर (सौजन्य : आर. पी. गुप्ता)



गिरीश घोष (सौजन्य : निर्माल्य आचार्य)



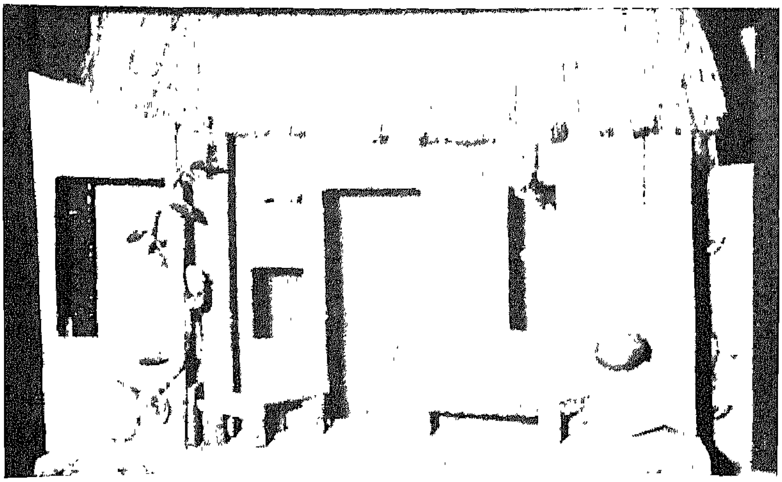
सरला में अमरेन्द्र दत्ता (सौजन्य : समिक बंद्योपाध्याय)



विजया में रासबिहारी के रूप में शिशिर भादुड़ी
(छायाचित्र : परिमल गोस्वामी; सौजन्य : हिमानीश गोस्वामी)



रविन्द्रनाथ टैगोर वाल्मीकि के रूप में, **वाल्मीकि प्रतिभा** में (सौजन्य : बहुरूपी)



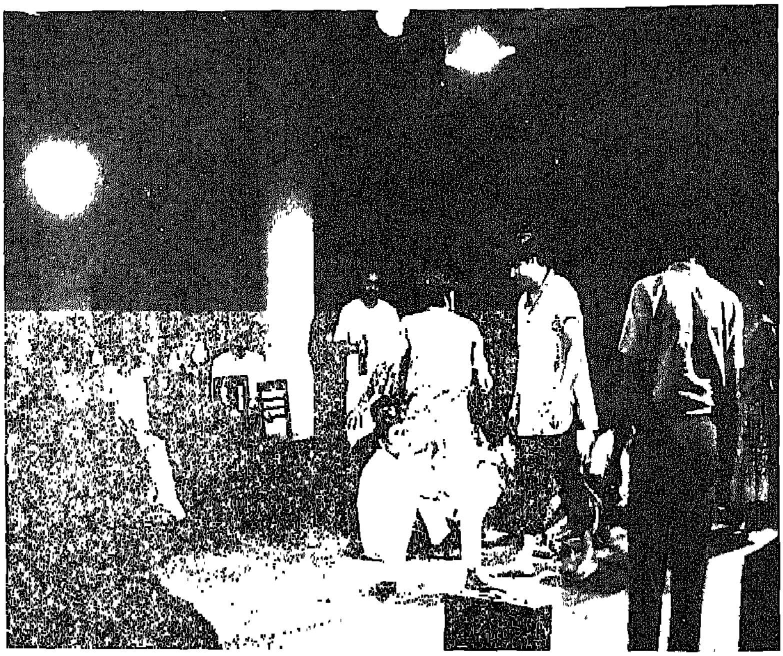
रवीन्द्रनाथ द्वारा प्रस्तुत **डाकघर** का माडल सेट (सौजन्य : प्रतिभा अग्रवाल)



रजिया में अहिन्द्र चौधुरी
(छाया : परिमल गोस्वामी; सौजन्य : हिमानीश गोस्वामी)



छक भंगा मोधु – थियेटर वर्कशाप प्रोडक्शन (सौजन्य : निमानी घोष और बिभाष चक्रवर्ती)



सगीना महतो बीच में – बादल सरकार प्रोडक्शन (सौजन्य : समिक बंद्योपाध्याय)

कलकत्ता अंग्रेजी साम्राज्य का दूसरा ऐसा शहर बन गया था जो अपनी गरिमा से तप रहा था। वह व्यापार और शिक्षा का एक महानगर था और बौद्धिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक आंदोलन का एक केंद्र था। वह एक ऐसा व्यस्त और भागदौड़ से भरा स्थान था जहां अन्य भाषाएं बोलने वाले प्रवासी भारी संख्या में आया करते थे। निस्संदेह उन्होंने अपने मनोरंजन हेतु अपने साधन और क्षेत्र ढूंढ़ लिए; लेकिन बंगाली लोग मनोरंजन तथा रोमांस, विनोद, कामुकता, त्रासदी, धर्म और देशभक्ति के संप्रेषित अनुभव के लिए जात्रा और रंगशाला ही जाया करते थे। बंगला रंगमंच विभिन्न संदेशों और सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार का एक मंच भी बन गया था। इनमें से कुछ को उस समय का शासन पसंद नहीं करता था। सन् 1876 के सेंसरी कानून के अधीन अनेक नाटकों का प्रदर्शन बंद हो गया था।

सन् 1872 में अस्थायी कामचलाऊ संरचना में 'नीलदर्पण' के प्रथम सार्वजनिक प्रदर्शन में 200 रु० के टिकट बिके। एक दशक के भीतर वहां तीन स्थायी नाट्यशालाएं अस्तित्व में आ चुकी थीं, जहां यदि किसी प्रदर्शन में औसतन 500 रु० से कम के टिकट बिकते तो प्रदर्शन सामान्यत: रोक दिया जाता था। सन् 1879 में शनिवार के नियमित प्रदर्शन के अतिरिक्त रविवार और बुधवार को अतिरिक्त प्रदर्शन होने लगे। नवें दशक के उत्तरार्द्ध तक औसत बिक्री बढ़ गई थी और कमाई भी बढ़ गई थी। रंगशाला एक वाणिज्यिक संस्था बन गई थी।

विभिन्न नाट्यशालाओं के स्वामित्व का अभिलेख पूंजी-निवेशों, भारी लाभों, बरबाद करने वाली हानियों, अंतहीन मुकदमेबाजी, षड्यंत्रों और बदनामियों की बेतरतीब मिलावट है। रंगशाला पूंजी चाहती थी, जिससे सदैव और पूर्णत: वित्तीय प्रतिलाभ नहीं होता था। उसके अन्य प्रलोभन थे जो आर्थिक कम थे। लालच चाहे जो हो, एक बार जब पैसे का चक्कर चल पड़ा तो वाणिज्यिकता अपरिहार्य हो गई।

आरंभिक रचनात्मक वर्षों में जनता जो चीज देखना चाहती थी और जिसके लिए वह पैसा खर्च करना चाहती थी वह चीज थी रंगे हुए परदों के सामने उच्चता और दृष्टि कोण के भिन्न भौतिक बिंदु से प्रस्तुत जात्रा। गिरीश घोष और अन्य लोग अंग्रेजी रंगमंच की अपनी संकल्पना प्रस्तुत करना चाहते थे। किंतु वे जात्रा को अपने तंत्रों से दूर न कर सके। परिणामस्वरूप बंगला रंगमंच अभिनेता-अभिमुख हो गया था जो कि वैसे कोई विशेष बात या गलत बात नहीं थी। किंतु मिश्रित प्रेरणा से ऐसी अभिनय शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ जो जात्रा की प्रणाली तथा भावना के प्रति प्रवण थीं। इसके परिणामस्वरूप, उन अधिकांश नाटकों में, जो रंगमंच के लिए लिखे जाते थे, 'नायकों' और 'खलनायकों' को

प्रधानता देते थे। उनमें 'प्रमुख अभिनेता के रूप में अभिनय' की बहुत गुंजाइश हुआ करती थी।

इस बात में संदेह करने का कोई कारण नहीं है कि जो व्यक्ति 'नायकों' तथा 'खलनायकों' की श्रेणियों में पहुंचने में सफल हुए वे उत्कृष्ट अभिनेता तथा अभिनेत्रियां थे। यदि समकालीन समीक्षाओं और अभिलेखबद्ध संस्मरणों में की गई प्रशंसा के बहुत कुछ अंश को संतुलनहीन भी मान लिया जाए तो भी गिरीश घोष, अर्धेन्दु मुस्तफी, अमृतलाल बसु, विनोदिनी, सुकुमारी दत्त, चुन्नीलाल देव, अमरेन्द्र दत्त, सुरेन्द्रनाथ घोष, क्षेत्रमणि, अपरेश मुखर्जी, तारा सुन्दरी तथा अन्य व्यक्तियों की अभिनय कला प्रतिभा पर संदेह करना कठिन होगा। वस्तुनिष्ठ आलोचक तथा सुबुद्ध प्रेक्षक दुर्लभ नहीं रहे हैं। उन व्यक्तियों ने, जिनके पास अनालोचक होने या कृपाशील होने का कोई कारण नहीं था और जो अन्य देशों के रंगमंच से परिचित थे, उस अभिनय की तुलना, जिसे वे देखा करते थे, अन्यत्र प्रस्तुत किए गए प्रदर्शनों से करते थे। एक वरिष्ठ सिविल सर्वेंट पी० एच० स्कर्न ने शासन के समक्ष यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया था कि गिरीश घोष को कोई सम्मानोपाधि प्रदान की जाए। जब इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया गया तो कहा जाता है कि उन्होंने कहा था : "दुनिया अपने महान व्यक्तियों के बारे में कितना कम जानती है।"

उन्होंने जिस अभिनय-शैली का विकास किया था वह जोर-जोर से और भावावेगपूर्वक बोलकर अभिनय करने की शैली थी। भूमिकाएं चाहे सुखांत हों या दुखांत हों, भावव्यंजना के लिए अंगविक्षेप या अंगचालन करने और अंततः भावावेग में पर्यवसित होने वाले स्वरोत्कर्षपूर्ण संवाद आलंकारिक ढंग से बोलने पर बल दिया जाता था। अंशतः यह 'जात्रा' के प्रभाव के कारण था, जिनके चरित्र देवियां तथा देवता या देवतुल्य मानव हुआ करते थे और जिन्होंने अपनी स्वयं की अनुकूल, नायकोचित शैली का विकास कर लिया था। अंशतः यह अंग्रेजी रंगमंच के अभिनेताओं के वृत्तांतों के प्रभाव के कारण था। हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि चर्चाओं और पूर्वाभ्यासों के दौरान सर हेनरी इर्विंग, एलेन टेरी, गैरिक, केम्बल तथा अन्य व्यक्तियों के नाम आया करते थे और उनके बारे में लोगों को जानकारी थी। इस प्रकार, अभिनय में प्रेक्षण के महत्त्व पर बल देते हुए गिरीश घोष ने प्रत्याह्वान किया कि हेनरी इर्विंग गोलियों की चोट खाकर मरते हुए सैनिकों को देखने के लिए युद्ध-भूमि पर गए थे। लंदन के रंगमंच के इन विख्यात अभिनेताओं ने भी जोर-जोर से बोलकर अभिनय करने की एक परंपरा का निर्माण किया था। अन्य परिस्थितियां इसके लिए उत्तरदायी थीं—उदाहरणार्थ, रंगमंच के स्थान और अभिनय-क्षेत्र का सीमित होना। दृश्यों के परिवर्तन के लिए रंगमंच के बीचों-

बीच एक रंगा हुआ परदा टांग दिया जाता था जो कि मंच को दो भागों में विभाजित कर देता था जिसके परिणामस्वरूप अभिनेताओं को मंच से नीचे एकत्र होना पड़ता था। उस काल की रंगशालाओं की ध्वनिकता ऐसी थी कि अभिनेताओं को सबसे आखिर में बैठे हुए दर्शकों को सुनाने के लिए अपने अलग हटकर कहे गए तथा सभी प्रकार के संवादों को जोर से बोलना पड़ता था। नाटक और औसत नाटक-दर्शकों की पसंद से भी अभिनय की शैली प्रभावित होती थी।

नाटकों का प्रदर्शन औसतन बीस या पच्चीस बार होता था। तीन या चार नाट्यशालाएं होने और एक सप्ताह में तीन प्रदर्शन होने के कारण नए नाटकों की मांग बराबर बनी रहती थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस संतोषणीय मांग को पूरा करने के लिए जो ढेर सारे नाटक लिखे जाते थे वे घटिया होते थे और अभिनेतागण उनके दोषों को छिपाने के लिए आलंकारिक भाषा का सहारा लिया करते थे। गिरीश घोष ने इस बात पर अफसोस जाहिर किया था कि उन्हें रंगशालाओं के लिए नाटक लिखने पड़े। यह एक शोचनीय स्थिति थी, क्योंकि यदि उनके पास नाटक लिखने की अधिक फुर्सत होती या प्रदर्शनों को देखने का अधिक समय होता तो वे अधिक अच्छे नाटक लिखकर और रंगमंचीय प्रदर्शनों के सुस्पष्ट दोषों को सुधारकर बंगला रंगमंच का अधिक उपकार कर सकते थे। उस स्थिति में वे संभवत: दर्शकों की प्रत्याशा और प्रतिक्रिया के सामान्य स्तर को उन्नत कर सकते थे।

उस जमाने में नाटक बहुत समय तक चला करते थे। आरंभिक वर्षों में, जब बिजली नहीं आई थी, प्रदर्शन, जैसा कि समाचारपत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों में अनोखे ढंग से दर्शाया जाता था, 'मोमबत्ती के उजाले में' आरंभ करते थे। नगरपालिका कानूनों में यह आदिष्ट था कि प्रदर्शन एक बजे रात तक समाप्त हो जाएं। दिया गया समय न तो दर्शकों द्वारा और न ही रंगशालाओं के मालिकों द्वारा पर्याप्त माना गया था। गिरीश घोष ने कलकत्ता की रंगशालाओं की ओर से निगम के प्राधिकारियों के समक्ष अपना प्रतिवाद प्रस्तुत किया तथा समय बढ़ाने की अनुमति देने का अनुरोध किया। अपनी अपील में उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया था, जो कि निराधार नहीं था, कि जब तक दर्शकगण रंगमंच से सुपरिचित नहीं हो जाते और नाटकों की भाषा से अवगत नहीं हो जाते तब तक नाटकों की घटनाओं के प्रत्येक पेंच और मोड़ को और चरित्रों के विकास को स्पष्ट करना पड़ता था। नाटककार समझने-बूझने का काम दर्शकों की कल्पना पर नहीं छोड़ सकते थे जैसा कि, उन्होंने चिंतित होकर कहा था, कोई अंग्रेजी नाटककार कर सकता था। नगरपालिका प्राधिकारियों ने उदार होकर 25 रु० के प्रतीकात्मक जुर्माने के भुगतान पर प्रदर्शनों को एक बजे रात के परे चलाने की

अनुमति दे दी। आगे चलकर जुर्माने भी नहीं किए गए और प्रदर्शनों का समय शनिवार के दिन 8 बजे रात से 3 बजे रात तक और रविवार के दिन 6.30 बजे संध्या से 3 बजे रात तक निश्चित कर दिया गया। वस्तुतः नाटक-दर्शकगण अपने पैसे का पूरा-पूरा मूल्य पाना चाहते थे। इन परिस्थितियों में इस बात पर आश्चर्य नहीं होता कि शाश्वत नाट्य साहित्य का सृजन नहीं हुआ बल्कि आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि अनेक काफी अच्छे नाटक लिखे गए। टैगोर एक अपवाद हैं, किन्तु कलकत्ते के व्यवसायी रंगमंच से उनका कोई सरोकार नहीं था।

अर्धेन्दु मुस्तफी की मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए आयोजित सभा में अपने स्मरण-अभिभाषण में गिरीष घोष ने कहा कि दिवंगत अभिनेता "विभिन्न अभिनेताओं के परिधानों की उपयुक्तता के विषय में विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए देखे जा सकते थे।" स्पष्टतः चर्चाएं बहुत लाभजनक नहीं हुआ करती थीं। नाटकों की समकालीन समीक्षाओं में कभी भी वेशभूषा और रूप-सज्जा पर टिप्पणियां नहीं की जाती थीं। ऐसे उल्लेख के अभाव में एक लोकप्रिय नाटककार मनमोहन गोस्वामी द्वारा रंगमंच को समर्पित पत्रिका 'नाट्यमंदिर' के लिए सन् 1910-11 में लिखे गए अनेक लेखों में व्यक्त किए गए विचारों पर विवाद करने का कोई कारण नहीं है : "वेशभूषा को देखकर यह नहीं जाना जा सकता था कि अभिनेता बंगाली था या बिहारी, या राजपूत था या जाट, या सिक्ख था या मराठा, या दक्षिणात्य था। वे सभी लंबे मोजे, छोटे पेंट (अधिक आयु के चरित्रों के लिए लंबे पेंट), झालर लगे हुए सेना के कोट, घुंघराले नकली बाल, फेटा या सलमा-सितारे वाली मुसलमानी टोपी या शिरस्त्राण, नकली मोतियों की माला, कमरपट्टे से लटकती हुई तलवार धारण किया करते थे और यही उनकी अपरिवर्तनशील वेशभूषा थी। मैंने यह देखा है कि अभिनेता भगवान रामचंद्र, या मुगल बादशाह जहांगीर या राजपूत वीर जसवंत सिंह के रूप में एक ही प्रकार की वेशभूषा धारण कर सकता था। अभिनेत्रियों के मामले में स्थिति बदतर थी। नायिकाओं के लिए एक प्रकार के वस्त्र हुआ करते थे और अन्य के लिए दूसरी प्रकार के। भले ही अभिनेत्री सीता या नूरजहां या शकुन्तला का अभिनय कर रही हो उसे एक ही प्रकार के वस्त्राभूषण धारण करने पड़ते थे।"[1] इस स्थिति के लिए गोस्वामी लगभग सभी को दोष देते हैं और दर्शकों को तो सबसे अधिक दोषी पाते हैं। उन्होंने उल्लेख किया है कि गिरीश घोष ने यह सुनिश्चित करने के लिए कि अभिनेतागण जैसोर के लोगों की सत्रहवीं शताब्दी की सादी वेशभूषा धारण करें, क्लासिक में 'भ्रांति' को प्रदर्शन करने के पूर्व पर्याप्त परिश्रम

1. अनुवाद।

किया था। किन्तु दर्शकों ने अभिनेताओं की वेशभूषा को पसन्द नहीं किया और तिरस्कार व्यक्त किया। वे कहते हैं कि जब कोई नायक—कोई भी नायक—किसी राजदरबार में या किसी जंगल में, खाते-पीते समय या लड़ते समय, प्रेमालाप करते समय या सोते समय जिरह-बख्तर और तलवार और दूसरी चीजों से लैस देखा जाता था तो वे कुछ भी नहीं कहते थे। प्रबंधकों तथा अभिनेताओं की अभिवृत्ति का सारांश यह था कि "महत्त्वपूर्ण तो अभिनेता है, न कि भूमिका, फिर चिंता क्यों करें?" रूप-सज्जा की कला पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था।

वेशभूषा तथा रूपसज्जा के प्रति उदासीनता प्रस्तुतीकरण के अन्य पहलुओं में भी देखी जाती थी। मंच का सामान्य विन्यास उन्नीसवीं शताब्दी के पारंपरिक अंग्रेजी रंगमंच के विन्यास की परिपाटी पर हुआ करता था। किन्तु अनुकरण की प्रक्रिया में वह हास्यास्पद हो गया था। धनंजय मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'बंगीय नाट्यशाला' में लिखा है कि "किस प्रकार रंगमंच के प्रबंधक परदों पर चित्र बनाने के लिए यूरोपीय उत्कीर्ण चित्रों और फोटोग्राफी की प्रतिलिपियां एकत्र किया करते थे। परिणामस्वरूप हम किसी गढ़ी के स्थान पर किला, उद्यानों के स्थान पर महाभवन, बारामदों के स्थान पर गलियारे तथा राजदरबारों के स्थान पर बैठक खाने देखते हैं।"

जर्जर होने के अतिरिक्त रंगपटों से न तो कल्पनात्मक प्रयोजन ही पूरा होता था और न क्रियात्मक। रंगमंच सज्जाकार 'जादू-भरे प्रभाव' निर्मित करने पर अधिक ध्यान देते थे। इस प्रकार हम सन् 1887 जैसे पुराने जमाने में मंचित नाटकों में पौराणिक युगों का चित्रण करने के लिए चोर-दरवाजों तथा द्वि-दृश्यों, वनों में परिवर्तित होते हुए समुद्रों, यांत्रिक युक्तियों की उपस्थिति पाते हैं। अभिनेतागण आकाश से आते थे और भूमि के गर्भ में समा जाते थे। खिलौना रेलगाड़ियां मंच पर चिनगारियां और धुआं उगलती थीं और जैसा कि विज्ञापन में दर्शाया जाता था, "रथों पर चढ़े हुए लोगों का घमासान युद्ध" हुआ करता था। अमरेन्द्र दत्त ने जो सुधार किए वे इन सभी बातों से अलग हटने के लिए नहीं किए थे। यद्यपि उनके नवाचारों ने रंगमंच को एक नया रूप दिया, तथापि उन्होंने कल्पना के क्षेत्र को जिसकी आवश्यकता के बारे में गिरीश घोष बहुधा कहा करते थे, बढ़ाने की बजाय सीमित कर दिया। उन्होंने लिखा था कि दर्शकों को रंगमंचीय परिपाटियों की दीक्षा दी जानी चाहिए और उन्हें अभिनेता के शब्दों को सुनकर यह मान लेना चाहिए कि हवा में लहराता हुआ चित्रित केनवास एक अभेद्य दुर्ग है। उन्होंने वैसा किया, किन्तु गलत कारणों से। उपेक्षित रंगपट, रंगे हुए परदे, अचरज में डाल देने वाले प्रभाव और नकली आलंब रंगमंचीय परिपाटियों का निर्माण नहीं करते थे जिसकी गिरीश घोष अपेक्षा करते

थे। बात यह है कि बंगला रंगमंच के पास अनेक उल्लेखनीय अभिनेता थे और अभिनेत्रियां भी थीं। अनेक निष्ठावान कार्यकर्त्ता थे और विशेषीकृत क्षेत्रों में प्रवीण व्यक्ति थे। किंतु उनके पास वैसे निर्माता और निर्देशक नहीं थे जैसे निर्माताओं और निर्देशकों का होना आज आवश्यक समझा जाता है। शिशिर भादुड़ी के रूप में वैसा निर्माता तथा निर्देशक पाने के लिए उसे इस शताब्दी के तीसरे दशक के आरंभ होने तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

तथापि, त्रुटियों के कारण रंगमंच की पर्याप्त उपलब्धियों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए और न हमें उन बाधाओं को भुला देना चाहिए जो उसके सामने थीं। गिरीश घोष की मृत्यु होने के समय तक बंगाली भद्र लोग नाटक देखने के आदी हो गए थे और रंगमंच उनके मानस और कल्पना का एक अंग बन गया था। रंगमंच के लोगों ने हृदय में स्थान पा लिया था, जिनकी संख्या बहुत बढ़ गई थी और जिनमें उच्चवर्गीय और निम्नवर्गीय दोनों ही प्रकार के लोग शामिल थे। उसने जो उत्साह जगाया और बनाए रखा, वह समाचारपत्रों में प्रकाशित हुई समीक्षाओं, अन्तहीन वाद-विवादों तथा चर्चाओं और रंगमंच से संबद्ध पत्रिकाओं के प्रादुर्भाव से ज्ञात होता है, जो कि मूल्यवान स्रोत-सामग्री उपलब्ध कराने के अतिरिक्त प्रयोजन की गंभीरता से हमें आश्चर्यचकित कर देते हैं। अंततः, वह विचारों और उपदेशों के प्रचार-प्रसार का मंच बन गया, जो कार्य वह अपने आविर्भाव के समय से करता आ रहा है।

यह सारी उपलब्धि अनेक बाधाओं के बावजूद हुई। रूप नया था और परकीय था। नाटक जल्दबाजी में लिखने और प्रदर्शित करने पड़ते थे। प्रबंधकों को बहुत कम समय मिलता था और इसके अतिरिक्त उन्हें बहुत कम पढ़े-लिखे लोगों की इच्छा को पूरा करना पड़ता था। अर्थव्यवस्था खराब रहा करती थी। यदि थोड़े समय में अनेक नाटक प्रदर्शित करने हों तो विभिन्न प्रकार की वेश-भूषा के लिए और प्रत्येक नाटक/के रंगपटों के लिए धन कहां था? दर्शकगण प्रबुद्ध नहीं थे। अंततः, शासन की दमनकारी शक्ति का भी भय था। जैसा कि गिरीश घोष ने आलोचकों को ठीक ही स्मरण दिलाया था, नाटक उस काल के बंगाली नाटक-दर्शकों के लिए लिखने पड़ते थे और अभिनीत करने पड़ते थे, न कि अन्य लोगों के लिए। वे प्रत्यास्मरण करते हैं कि किस प्रकार जब 'मैकबेथ' के बाद 'मुकुल मंजरा' तथा 'अबू हुसैन' संगीत-नाटकों का प्रदर्शन हुआ तो लोगों ने राहत की सांस ली।

10

रंगमंच, सन् 1912-1921

सन् 1911 में बंगाल का विभाजन प्रत्यावर्तित हो गया। बंगाली बुद्धिजीवी वर्ग में हर्षोल्लास छा गया और वे स्वाभिमान की अनुभूति से प्रसन्न हो उठे। प्रांत के पुन: एकीकरण को एक न्यायोचित उद्देश्य का प्रतिपादन समझा गया, जिसे लड़कर प्राप्त किया गया था। लोगों में यह भावना घर कर गई कि उनकी शक्ति ने बलशाली अंग्रेजी साम्राज्य को उस व्यवस्था को वापस लेने के लिए बाध्य कर दिया जिसे लार्ड कर्जन ने अटल बताया था। ऐसा लगता है कि एकीकरण के साथ कलकत्ता के बजाय दिल्ली को राजधानी बनाने की घोषणा पर इस हंगामे में बंगालियों का ध्यान नहीं गया। उन्होंने सुख की अनुभूति की तथा उनकी राजनैतिक मन:स्थिति निरुद्वेग हो गई।

रंगमंच इस मनोभाव को प्रतिबिंबित करता था। टिकटों की बिक्री से होने वाली आमदनी और पुराने तौर-तरीकों से संतोष करते हुए उसने एक निरापद प्रावस्था में प्रवेश किया और फिर उसके पतन के काल का आरंभ हुआ। पतन तत्काल दिखाई नहीं दिया। टिकटों की बिक्री बढ़ रही थी और नाट्यशालाएं अधिक कीमतों पर खरीदी जा रही थीं। किंतु शीघ्र ही वे हानिकर उपक्रम बन गईं और स्वामित्व में बारंबार परिवर्तन हुए। पुरानी 'बंगाल थिएटर' नाट्यशाला में नए स्वामियों तथा नामों का सिलसिला चला। गिरीश घोष की मृत्यु होने के समय तक उन्हें हानि होने लगी और हम यह पाते हैं कि नाटकों के साथ-साथ सिनेमा के प्रदर्शन भी होने लगे थे। 'इंडियन डेली न्यूज' के 5 फरवरी, 1916 के अंक में प्रकाशित एक विज्ञापन में यह उद्घोषणा की गई थी कि नाटक 'जयदेव', 'बिल्वमंगल' तथा 'बैटल आफ पलासी' के अतिरिक्त "बायोस्कोपी फिल्मों का अद्भुत प्रदर्शन होगा जो कि नाट्यकला के अनुरागियों के लिए कम आकर्षणपूर्ण नहीं है।" इस नाट्यशाला के तोड़ दिए जाने के पूर्व उसे लेने वाली अंतिम नाटक मंडली वही थी जो सर्वप्रथम एक सीमित कंपनी के रूप में गठित की गई। यह कंपनी अपने गठन के आठ महीनों के भीतर अवसायित हो गई।

अन्य नाट्यगृहों के स्वामित्व में भी ऐसे ही परिवर्तन हुए, भले ही बारंबार न हुए हों। सन् 1906 में 'क्लासिक' के बंद हो जाने के पश्चात नए मालिक ने

उसे छह वर्षों तक चलाया जिसके बाद इस रंगशाला को मनमोहन पांडे नामक एक व्यक्ति ने 1,11,000 रु० में खरीद लिया। मनमोहन थिएटर, जैसा कि उसके मालिक ने उसका नाम रखा था, अगस्त, 1915 में आरंभ हुआ। उसकी सबसे बड़ी विभूति गिरीश घोष के पुत्र सुरेन्द्रनाथ घोष (दानी बाबू) थे, जो एक अभिनेता के रूप में उस समय अद्वितीय थे। अमृतलाल बसु को छोड़ वे पुराने अभिनेताओं में सबसे अंतिम थे। सन् 1918 में उनके इस नाट्यशाला के आंशिक स्वामी बन जाने के बाद प्रस्तुत किए गए प्रथम नाटक की समीक्षा करते हुए 'दि बंगाली' ने लिखा था : "यह नाटक इस वीरप्रसू भूमि के गौरवशाली भूतकाल से संबद्ध है, अतः यह नाटक सभी देशभक्त लोगों को देखना चाहिए। दानी बाबू ने खिजिर खान का अभिनय किया है, इतना कहना ही पर्याप्त है।"[1] इस नाटक के 150 प्रदर्शन हुए, जो कि एक अपूर्व घटना थी। किंतु एक अभिनेता के रूप में न तो दानी बाबू की लोकप्रियता और न एक गायिका के रूप में आश्चर्यमयी की लोकप्रियता नाश को रोक सकी। दानी बाबू अंशतः अपने खराब स्वास्थ्य के कारण और अंशतः, जैसा कि संदेह किया जाता है, यह देखकर कि पुरानी शैली—वह एकमात्र शैली जिसे वे जानते थे—नाटकदर्शकों की नई पीढ़ी को प्रभावित नहीं कर पा रही थी, उदासीन हो गए थे। मनमोहन थिएटर सन् 1924 तक किसी तरह चलता रहा और फिर शिशिर भादुड़ी ने उसे ले लिया।

क्रमांक 6, बीडन स्ट्रीट में स्थित मिनर्वा थिएटर के स्वामित्व में सन् 1905 में और उसके बाद सन् 1915 में परिवर्तन हुआ। इसी रंगशाला में गिरीश घोष ने अपने आखिरी दिन बिताए और अपने नाटक 'बलिदान' में आखिरी बार 11 जुलाई 1907 को करुणामय के रूप में वे रंगमंच पर आए। नये मालिक, उपेन्द्र मित्र ने एक युवा नाटककार, अपरेश मुखर्जी को प्रबंधक के रूप में नियोजित किया। 'रंगालये त्रिश बत्सर' के रचयिता होने के अतिरिक्त, जिसमें इस शताब्दी के प्रथम दो दशकों की बंगला रंगमंच की स्थिति का सर्वोत्तम विवरण मिलता है, वे एक योग्य प्रबंधक तथा प्रशिक्षक थे। वे पुराने रंगमंच को जानते थे और उन्होंने उसके लिए कार्य किया था। किंतु वे इतने समझदार थे कि उन्होंने परिवर्तन की आवश्यकता को महसूस किया था और जब परिवर्तन आया तो उन्होंने उसका न केवल स्वागत किया बल्कि वे उसकी सफलता के शिल्पियों में से एक थे। अपरेश मुखर्जी ने सन् 1918 में मिनर्वा को छोड़ दिया। तारा सुन्दरी ने भी जो कि उनकी प्रचलित विधान-सम्मत पत्नी थीं, यही किया और उस समय वह एक अभिनेत्री के रूप में अपनी ख्याति के शिखर पर थीं। उसके बाद मिनर्वा के सुदिन, पुनरुज्जीवन की संक्षिप्त अंतरावधियों के साथ, समाप्त

1. शिशिर बसु द्वारा लिखित 'इकशो बछरेर बांग्ला थिएटर', पृ० 338.

हो गए। 18 अक्तूबर, 1922 की रात को लगी आग ने इस पुरानी नाट्यशाला को नष्ट कर दिया।

'स्टार' किसी प्रकार से अच्छे और बुरे समय के दौर से गुजरता हुआ निरावेग सम्माननीयता की अपनी ख्याति को अक्षुण्ण बनाए रख सका। उसकी प्रसिद्धि का पर्याप्त श्रेय अमृतलाल मित्र को प्राप्त है, जिनकी मिनर्वा थिएटर से संबद्धता परिवर्तनशील निष्ठा के उस काल में एकनिष्ठता की बेजोड़ मिसाल थी। अपने मिताचारपूर्ण चरित्र तथा व्यवहार के बल पर उन्होंने इतने अनुशासन तथा शिष्टाचार की स्थापना की थी जितनी अन्यत्र दुर्लभ थी। वे पुरानी परिपाटी के अभिनेता थे और उन्होंने गिरीश घोष से आरंभिक प्रशिक्षण प्राप्त किया था। अपरेश मुखर्जी अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि उनके पास "अनुकरणीय मधुर स्वर" था और वे "सुखांत और दुखांत दोनों ही प्रकार की भूमिकाओं के अभिनय में समान रूप से सक्षम थे।" पुस्तकों तथा पत्रिकाओं में उनका सदैव सम्मानपूर्वक उल्लेख किया जाता था। 'स्टार' में 2 जून 1907 को प्रदर्शित 'प्रफुल्ल' नाटक में जोगेश की भूमिका में उनका अभिनय रंगमंच के इतिवृत्त का एक भाग बन गया, जबकि वही नाटक मिनर्वा में प्रदर्शित किया जा रहा था और गिरीश घोष उस भूमिका का निर्वाह कर रहे थे। गुरु तथा उनके तत्कालीन चेले की प्रतिद्वंद्विता और गुण-दोषों के संबंध में पर्याप्त उत्तेजना रहा करती थी और सुदीर्घ वाद-विवाद चला करते थे। सन् 1908 में अमृतलाल बसु की मृत्यु हो जाने पर स्टार के सुदिन समाप्त हो गए, किंतु जब सन् 1911 में अमरेन्द्र दत्त उसमें सम्मिलित हुए तो उसे पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। इस बार वे किराएदार के रूप में और प्रबंध की संपूर्ण शक्ति से संपन्न होकर आए थे। उन्होंने जनता के मनोभावों के प्रति अपना अंतर्बोध नहीं खोया था। उन्होंने अमृतलाल बसु के प्रहसन 'खासदखल' का प्रदर्शन किया, जो कि बेहद सफल रहा। 'अमृत बाजार पत्रिका' ने 21 अगस्त, 1912 को यह संवाद प्रकाशित किया कि यह नाटक "भले ही पिछले चार महीनों से प्रदर्शित किया जा रहा है, फिर भी प्रत्येक अवसर पर बेशुमार दर्शकों को आकृष्ट कर रहा है।" तथापि, 'स्टार' के अवस्तन के पूर्व वह अंतिम संवेग था। अमरेन्द्र दत्त के स्वास्थ्य में गिरावट आ रही थी और उसके साथ-साथ दर्शकों के मनोभावों को भांपने की उनकी योग्यता भी कम होती जा रही थी। सन् 1918 में स्वामित्व में परिवर्तन हुआ और अगले वर्ष अपरेश मुखर्जी उसमें उसके प्रबंधक के रूप में आए। 'स्टार' के अच्छे दिनों के पुनरुज्जीवन के पूर्व वे कुछ समय तक उसमें रहे।

गिरीश घोष की मृत्यु के बाद का दशक बंगला रंगमंच के लिए अंधकारमय तथा उजाड़ रहा। वस्तुतः, पतन का आरंभ पहले ही हो चुका था। बचकर चलते हुए और नये विचारों की आजमाइश न करते हुए रंगमंच ने धीरे-धीरे शृंगार

रस के उस भंडार का उपयोग किया जिसने उसे प्राणान्वित किया था और जो उसे इतने समय तक जीवित रखे हुए था, और जब उसने अपने कायाकल्प का प्रयत्न किया तो उसने पुरानी औषधि का अधिकाधिक प्रयोग किया, जो कि अब रोग का निराकरण करने के बजाय उसे बढ़ा रही थी। बाहर से देखने पर वह स्वस्थ दिखाई देता था। 'बलिदान' तथा 'सिराजुद्दौला' जैसे कुछ नाटकों से अच्छी आमदनी हुई। किंतु ऐसी लौकिक सफलताएं धोखे में डालने वाली थीं। कलकत्ता की वृद्धि तथा राष्ट्रवादी भावों के उत्थान के कारण रोग कुछ समय तक छिपा रहा। गिरीश घोष की मृत्यु के पश्चात वह उभर आया।

वस्तुत: रंगमंच नहीं बदला था बल्कि नाटक-दर्शक बदल गए थे। शिक्षा का प्रसार हो चुका था और नई पीढ़ी आ चुकी थी। लोग भले ही थोड़े समय के सुख के लिए नाटक देखने आते थे, तथापि पुराने चेहरों और जाने-पहचाने नाटकों को देखते-देखते वे उकता चुके थे। वे बहुत समय तक चल चुके थे। जैसे ही वे बड़े-बड़े लोग जिनके इर्द-गिर्द रंगमंच था, लुप्त हो गए या जैसे ही विचारों और प्रेरणाओं का अभाव हो गया, नाटकों का बासीपन अधिकांशत: अनालोचक औसत दर्शक को भी महसूस होने लगा। कमाया हुआ धन बरबाद हो चुका था। न तो अव्यवस्थापूर्ण प्रबंध में और न रंगमंच के पीछे के अप्रिय वातावरण में कोई सुधार हुआ। किसी भी उल्लेखनीय नाटककार का आविर्भाव नहीं हुआ। अपरेश मुखर्जी ने अनेक नाटक लिखे किंतु वे, डी० एल० राय के नाटकों की भांति, केवल आगे चलकर लोकप्रिय हुए। इस काल के रंगमंच की स्थिति का विशद, भले ही कुछ रुखा, विवरण प्रोफेसर शिरीष कुमार बैनर्जी ने दिया है। ''उस समय रंगमंच पुरानी जीर्णशीर्ण रूढ़ियों से मार्गदर्शित होता हुआ नि:शेष होने की अवस्था में था। गिरीश घोष, अमरेन्द्र दत्त, अमृत मित्र, अमृतलाल बसु तथा अन्य प्रतिभा-संपन्न अभिनेताओं की या तो मृत्यु हो चुकी थी या वे निवृत्त हो चुके थे। साहित्य के विपरीत, नाट्य साहित्य तथा अभिनय एक पुराने युग के प्रति अनुरक्त था और उसमें समय के साथ प्रगति का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता था। रंगमंचीय अभिनय तथा रंगमंच उन्नीसवीं शताब्दी की रोमानी भावुकता और काल्पनिक अयथार्थ की ओर उन्मुख था। नाटकों में राजाओं और महाराजाओं के भड़कीले, सजीले वस्त्र, देशभक्ति और सस्ते आदर्शवाद का प्रदर्शन, वीरोचित भावावेगों के प्रदर्शन के लिए अविराम शब्दाडंबर, शोक और विषाद की अभिव्यक्ति के लिए रुंधे हुए गले से बहुत अधिक की गई चीख-पुकार और दर्शकों के अश्रुप्रवाह और अश्लील रुचि वाले दर्शकों के कोलाहपूर्ण प्रशंसोद्गार आदि सभी बातों और चरित्र-चित्रण के पारंपरिक, निश्चित प्रतिरूप को देखा जा सकता था। ये सभी बातें अनुपयुक्तता, असुख और अपरिचितता की भावना फैलाती थीं। वह एक ऐसे भूतकाल के स्वप्नों का प्रत्यावर्तन था जो कि वर्तमान काल

से असंबद्ध था और दैनिक घटनाओं के वेश में अवास्तविक विश्व का शोकपूर्ण भ्रम था। चरित्रों की अवास्तविकता अभिनय के भड़कीले अतिरेक से और भी अधिक मुखर हो उठती थी। रंगमंच पर अभिनय कर रहे अभिनेताओं और प्रेक्षागृह में बैठे हुए दर्शकों के बीच की दूरी—जो कि वस्तुत: अलंघ्य थी—मात्र भौतिक दूरी नहीं थी। अभिनेताओं के बीच भी ऐसी ही दूरियां थीं। अपने ही महत्व के अभिमान में सुध-बुध खोए हुए अभिनेता अन्य अभिनेताओं और अभिनेत्रियों के सहयोग या अनुक्रिया के न तो अभिलाषी थे और न वे वह पाते थे। नर्तक और छोटी-मोटी भूमिकाएं करने वाले अभिनेताओं की दृष्टि भद्दे-से-भद्दे फिकरे सुनने की ओर लगी रहती थी। यह स्थिति किसी भी शिष्ट व्यक्ति के लिए दुखद थी। सर्वोपरि, दर्शकों की गंदी फब्तियां, जोरदार कहकहे और हंगामे से निष्कृष्ट अभिरुचि और अशिष्टता का अरुचिकर वातावरण बन जाता था। इसलिए शिक्षित और परिष्कृत अभिरुचि के लोगों में रंगमंच के प्रति घृणा और विरोध की भावनाओं का जाग्रत होना अकारण नहीं था।[1]

उसी काल के संबंध में लिखते हुए एक विवेकशील आलोचक हेमेन्द्रकुमार राय ने, जो एक प्रसिद्ध रंगमंच पत्रिका 'नाचघर' के संपादक थे, 'हिन्दुस्तान' नामक समाचारपत्र के 25 जून 1921 में प्रकाशित एक लेख में अपनी निराशा और हताशा अभिव्यक्त की थी। उन्होंने लिखा था, "अनेक कारणों से हम इन दिनों बंगाली अभिनेताओं की अभिनय-कुशलता पर गंभीरतापूर्वक संदेह करने लगे हैं। अधिकांश व्यावसायिक अभिनेता, जिन्हें हम रंगमंच पर देखते हैं, गर्दन में कष्टकर पीड़ा उत्पन्न कर देते हैं। अचल मुखौटेनुमा चेहरों, अगतिशील शरीरों की काष्ठवत कठोरता, कर्कश स्वर में बोले जाने वाले अशुद्ध उच्चारण-युक्त तथा बेमेल शब्दों को देखना-सुनना दिल बैठा देता है। बंगला रंगमंच के भविष्य पर हमें गहरा शोक है।"[2] एक विख्यात उपन्यासकार सौरीन्द्र मोहन मुखर्जी ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किए थे। शिशिर भादुड़ी पर लिखी गई एक पुस्तक में उन्हें यह कहते हुए उद्धृत किया गया है कि, "गिरीश घोष की मृत्यु के बाद बंगला रंगमंच से स्वाभाविक अभिनय का लोप हो गया। उसका स्थान ऊंची आवाज में बोलेजाने वाले कर्णभेदी संवादों, अनुनासिक कृत्रिमता और बकवास ने ले लिया।" तथापि उन्होंने आगे यह लिखा कि "प्रत्येक अभिनेता ऐसा नहीं था। अनेक अपवाद भी थे। उन दिनों में भी दानी बाबू, अपरेश बाबू, तारक पालित, तारा सुंदरी, तीन कौड़ी तथा सुशीलाबाला के अभिनय में वह गुणवत्ता

1. शंकर भट्टाचार्य द्वारा लिखित 'नाट्याचार्य शिशिर कुमार', पृ० 49.
2. वही, पृ० 37, अनुवाद।

थीं जो कि अगली पीढ़ी के अनेक अभिनेताओं की गुणवत्ता से श्रेष्ठतर थी।"[1] तुलना उचित हो, या न हो फिर भी नाट्यशालाओं को जिनकी संख्या कम हो गई थी और जो दीन-हीन तथा जीर्ण-शीर्ण हो चुकी थीं, बंद न होने का श्रेय उन कुछ अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को है, जो अनेक दर्शकों को लुभाए हुए थे। दानी बाबू, तीन कौड़ी दासी तथा तारा सुन्दरी उनमें अग्रणी थे।

सन् 1868 में जन्मे दानी बाबू (सुरेन्द्र नाथ घोष) ने रंगशाला में प्रवेश करने के पूर्व कुछ वर्ष प्राथमिक शिक्षा प्राप्त की थी। गिरीश घोष के पास अपने पुत्र के लिए अधिक समय नहीं था। सुरेन्द्रनाथ ने अपने पिता के प्रिय शिष्य अमृतलाल मित्र से अभिनय के मूल सिद्धांत सीखे। वे सबसे पहले सन् 1890 में 'स्टार' के मंच पर गिरीश घोष के धार्मिक नाटक 'चंदा' में आए। इस प्रकार विभिन्न रंगशालाओं के अभिनेता, प्रबंधक तथा भागीदार के रूप में उनके सुदीर्घ कार्यकाल का आरंभ हुआ। अमृतलाल बसु को छोड़, संभवतः वे उस पीढ़ी के एकमात्र व्यक्ति थे जिसने बंगला रंगमंच का उसकी किशोरावस्था में पालन-पोषण किया था और जिन्होंने न केवल उसका उत्थान और पतन ही देखा बल्कि तीसरे दशक में उसका पुनरुत्थान भी देखा। वे लगभग पूर्णतः अपने स्वयं के प्रयासों और अपने रंगमंचीय व्यक्तित्व के बलबूते पर ऐसा कर सके। दो पीढ़ियों के लोकप्रिय नाटकों में शायद ही ऐसी कोई प्रमुख भूमिका रही हो जिसका निर्वाह उन्होंने उत्तरदायित्वपूर्वक न किया हो। लगभग उन सभी नाटकों के लिए समाचारपत्रों ने उनकी प्रशंसा की। उन्होंने उनकी लोकप्रियता के विषय में, जो कि उन्हें बहुत परिश्रमपूर्वक प्राप्त हुई थी, यह कहा है कि नाटक-दर्शकों की नई पीढ़ी ने, जिसकी दृष्टि शिशिर भादुड़ी के प्रयासों के कारण व्यापक हो गई थी और अभिवृत्ति परिवर्तित हो गई थी, उन्हें अस्वीकार नहीं किया और हम उन्हें सन् 1924 में एक त्रिवर्षीय अनुबंध पर आर्ट थिएटर में सम्मिलित होता हुआ पाते हैं। एच० एन० दासगुप्त अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि जब कभी वे अपनी प्रिय पुरानी भूमिकाओं में आते थे तो 1500 रु० से लेकर 2000 रु० तक की टिकटें बिका करती थीं, जो कि इस तथ्य का प्रमाण है कि अब भी उन्हें चाहने वाले लोग बहुत थे।[2] निस्संदेह वे कमजोर हो गए थे किंतु उनकी चपलता और उनके स्वारानुनाद में उनके जीवन के अंतिम वर्षों तक कोई गिरावट नहीं आई। वे अंतिम बार मार्च, 1932 में रंगमंच पर आए और कुछ महीनों बाद उनकी मृत्यु हो गई। रंगमंच से बाहर निश्चेष्ट प्रतीत होते हुए भी जब वे रंगमंच पर आते थे तो सदैव अप्रत्याशित ओजस्विता का परिचय देते थे। जैसी शिक्षा उन्हें

1. वही, पृ० 45, अनुवाद।
2. एच० एन० दासगुप्त द्वारा लिखित 'दि इंडियन स्टेज', खंड चार, पृ० 182.

प्राप्त हुई थी उसे देखते हुए वे विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं का, विशेषत: ऐसी भूमिकाओं का निर्वाह जिनमें कर्कश भावनाओं के प्रदर्शन की आवश्यकता होती थी, सहजतापूर्वक करते थे। 'नाचघर' ने उनके मृत्यु-समाचार में लिखा था : "सुरेन्द्रनाथ घोष (दानी बाबू) जिन्होंने अपने अभिनय काल के दौरान बहुत प्रशंसा प्राप्त की थी, सदैव हमें गोर्डन क्रैग का स्मरण दिलाते हैं। वे एक अभिनेता से भी अधिक थे, जैसा कि हम सामान्यत: उन्हें कहते हैं। वे एक कलाकार थे। एक सृजनकर्त्ता थे।"

तीन कौड़ी दासी ने, जो रंगमंच पर अपनी किशोरावस्था में आई थीं, प्राथमिक प्रकार की भी कोई औपचारिक शिक्षा नहीं पाई थी। उनमें विनोदिनी की सहजात प्रतिभा भी नहीं थी। तथापि जब उन्हें प्रशिक्षित किया गया और गिरीश घोष के प्रस्तुतीकरण में उन्हें लेडी मैकबेथ की भूमिका जैसी विदेशी और कठिन भूमिका दी गई तो उन्होंने उत्कृष्ट अभिनय किया। नाटक असफल रहा किंतु तीन कौड़ी की प्रतिष्ठा दृढ़ता से स्थापित हो गई। अपने अनुवर्ती कार्य-काल में वे कभी इस मंडली के साथ रहीं तो कभी उस मंडली के साथ, और उन्होंने विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं कीं। दानी बाबू की भांति, जब गिरीश घोष की मृत्यु के बाद समय बदल गया तो वे अपनी व्यावसायिक योग्यता के बलबूते पर टिकी रहीं। सन् 1915 तथा सन् 1916 जैसे परवर्ती काल में हम उन्हें जन, हमीदा तथा लछमनिया जैसी कठिन भूमिकाओं में अभिनय करता हुआ पाते हैं। अपरेश मुखर्जी अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि "जिन लोगों ने बंकिम चन्द्र चटर्जी के उपन्यास 'सीताराम' के नाट्य रूपांतरण में गिरीश घोष को सीताराम के रूप में और तीन कौड़ी या तारा सुन्दरी को श्री के रूप में देखा था उन्हें यह स्वीकार करना होगा कि विश्व की किसी भी रंगशाला को उनके अभिनय पर अभिमान हुआ होता।"[1]

जब तारा सुन्दरी ने सन् 1884 में 'चैतन्य लीला' में पहली बार अभिनय किया तो वे आयु में तीन कौड़ी से भी छोटी थीं—मात्र सात वर्ष की बालिका थीं। अमृतलाल मित्र तथा अर्धेन्दु मुस्तफी से प्रशिक्षण पाकर वे धीरे-धीरे शीर्षस्थ अभिनेत्रियों की श्रेणी में पहुंच गईं और लगभग तीस वर्षों तक अपनी प्रतिष्ठा बनाए रहीं। अपने कठोर परिश्रम, दृढ़ संकल्प और सीखने तथा सुधार करने की अपनी कम न होने वाली तत्परता के बलबूते पर वे ऐसा कर सकीं। यह कोई कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी कि वे एकमात्र ऐसी अभिनेत्री थीं जिन्हें भले ही शिशिर भादुड़ी ने प्रशिक्षित नहीं किया था फिर भी शिशिर भादुड़ी ने उन्हें 'जन' तथा 'आलमगीर' जैसे महत्त्वपूर्ण नाटकों में स्त्री-भूमिकाएं दी थीं। अपने

1. 'रंगालये त्रिश बत्सर', पृ० 113, अनुवाद।

सुदीर्घ कार्यकाल में तारा सुन्दरी ने, तुलनात्मक लोकप्रियता तथा टिके रहने की शक्ति से संपन्न अन्य अभिनेत्रियों की भांति, लगभग सभी प्रसिद्ध और लोकप्रिय नाटकों में अभिनय किया। किंतु वह भूमिका, जिसने उन्हें अपरिमित ख्याति दिलाई, रजिया की भूमिका थी, जो कि उन्होंने इसी नाम की एक भारतीय रानी के जीवन पर लिखे गए एक नाटक में अभिनीत की थी। यह नाटक मनमोहन राय ने लिखा था और वह 2 मई, 1902 को अरोरा थिएटर में प्रदर्शित हुआ। यह नाटक बहुत सफल हुआ और विभिन्न मंडलियों ने विभिन्न नाट्यशालाओं में एक दशक से भी अधिक समय तक उसका प्रदर्शन किया। इस नाटक में तारा सुन्दरी प्रधान भूमिका अभिनीत करती थीं। अपरेश मुखर्जी तो यहां तक लिखते हैं कि "रजिया को तारा सुन्दरी का समानार्थक शब्द माना जाने लगा" और "यह भूमिका उनके मुकुट का सबसे बड़ा नगीना थी।" वे सुप्रसिद्ध राष्ट्रवादी वाग्मी विपिन चन्द्र पाल को यह कहते हुए भी उद्धृत करते हैं कि "उन्होंने यूरोप और अमेरिका की रंगशालाओं में तारा सुन्दरी की समतुल्य कोई अभिनेत्री नहीं देखी थी।" हेमेन्द्र कुमार राय ने उनके संबंध में लिखा : "पचास वर्षों की कालावधि में मैंने जितनी भी अभिनेत्रियों को गंभीर, शोकपूर्ण भूमिकाओं में देखा है है उनमें तारा सुन्दरी सर्वश्रेष्ठ हैं।"

ऊपर से ये अनुकूल अभिमत इस काल के रंगमंच की दयनीय स्थिति के विवरण के संदर्भ में अटपटे लगते हैं। तथापि, इस तथ्य को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि दानी बाबू, तीन कौड़ी, तारा सुन्दरी तथा अपरेश मुखर्जी जैसे अभिनेताओं और अभिनेत्रियों ने ऐसे व्यक्तियों से प्रशिक्षण पाया था, जो कि आधारभूत कौशलों को सीखने, और भलीभांति सीखने, के महत्त्व को समझते थे। समय बदल गया था। एक नए बौद्धिक और सामाजिक वातावरण में नई पीढ़ी को पुराने रंगमंचीय प्रतिमान घिसे-पिटे प्रतीत होते थे, और वे वस्तुत: वैसे थे भी। इन अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की उपलब्धि यह थी कि बदलती हुई अभिरुचियों के बावजूद वे जनता को आकृष्ट किए रहे और मात्र अपनी व्यावसायिक सक्षमता के आधार पर बंगला रंगमंच को नष्ट होने से बचाए रहे। यह उपलब्धि साधारण नहीं थी। किंतु यह स्पष्ट ही है कि वे आयु और निर्बलता के विरुद्ध संघर्ष में जीतने की आशा नहीं कर सकते थे। बुद्धिजीवी लोग रंगमंच का तिरस्कार करने लगे थे और औसत दर्शक उत्साहहीन होता जा रहा था। रंगमंच आखिरी सांस ले रहा था और यह स्पष्ट था कि जब तक विपुल ओजस्विता तथा दूरदृष्टि से संपन्न कोई व्यक्ति सामने नहीं आता, बंगला रंगमंच की समाप्ति आसन्न थी। बाधाएं इतनी अधिक थीं कि उसे उस भवितव्यता से उबारना किसी एक व्यक्ति के वश की बात नहीं थी। किंतु एक व्यक्ति ने उसे उबारा।

11

शिशिर भादुड़ी

शिशिर कुमार भादुड़ी का जन्म सन् 1889 में हुआ था। इसी वर्ष गिरीश घोष ने 'प्रफुल्ल' नाटक लिखा था और रवीन्द्रनाथ ने अपना प्रथम सर्वांगीण नाटक 'राजा ओ रानी' लिखा था। यद्यपि उनके पिता एक जमींदार परिवार के थे तथापि वे उन आरंभिकतम भारतीय इंजीनियरों में से एक थे, जो सुप्रसिद्ध रुड़की इंजीनियरिंग कालेज से स्नातक हुए थे। शिशिर भादुड़ी ने एक काफी खुशहाल शिक्षित परिवार के एक पुत्र की हैसियत से स्तरीय उदार शिक्षा पाई थी और उन्होंने सन् 1913 में प्रेजीडेंसी कालेज, कलकत्ता से अंग्रेजी में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। उनके समकालीन व्यक्तियों तथा मित्रों में प्रख्यात भाषा-विज्ञानी डा० सुनीति कुमार चटर्जी, विख्यात संस्कृत विद्वान् डा० सुशील कुमार दे, अर्थशास्त्री प्रोफेसर जे० पी० नियोगी, विधिवेत्ता न्यायमूर्ति के० सी० सेन तथा कला-समीक्षक डा० शाहिद सुहरावर्दी जैसे व्यक्ति सम्मिलित थे, जिन्होंने भविष्य में विद्वता और कला के क्षेत्रों में प्रसिद्धि प्राप्त की। हम उस शैक्षिक वातावरण की कल्पना कर सकते हैं जिसमें शिशिर भादुड़ी ने अपने प्रारंभिक रचनात्मक वर्ष, पहले तो एक छात्र के रूप में और आगे चलकर विद्यासागर कालेज में, जहां उन्होंने सन् 1914 से लेकर 1921 तक सात वर्षों तक अंग्रेजी पढ़ाई, व्यतीत किए। उनके सहयोगियों और शिष्यों के संस्मरणों से हम एक अत्यधिक दिलचस्प, सहृदय, मनमौजी, विनोदप्रिय तथा मौलिक विचारों वाले व्यक्ति के रूप में उनका चित्र पाते हैं। डा० सुनीति चटर्जी के शब्दों में वे "लगभग एक दशक तक कलकत्ता विश्वविद्यालय के अत्यंत प्रतिभाशाली तथा अत्यंत लोकप्रिय छात्र थे।" एक अन्य विद्वान् डा० श्री कुमार बनर्जी ने उनकी छात्रावस्था में उन पर शिशिर भादुड़ी का जो प्रभाव पड़ा था उसका चित्ताकर्षक वर्णन किया है : "मैं एक छोटे नगर से आया हुआ शर्मीला अबोध युवक था और जब मैंने उनका चौंधिया देने वाला सुदर्शन व्यक्तित्व, उनका धाराप्रवाह अंग्रेजी संभाषण, शिक्षकों के साथ समानता के भाव से बातें करना और मिलना-जुलना देखा-सुना तथा अन्य छात्रों में उनकी लोकप्रियता और प्रभावशीलता देखी तो मैं भौंचक रह गया। वे कक्षा में होने वाले व्याख्यानों की उपेक्षा किया करते थे

और बहुधा कक्षाओं में अनुपस्थित रहते थे। मैंने उन्हें संध्या के समय होने वाली हमारी नियमित मुलाकातों में अधिक अच्छी तरह से जाना, जो कि हमारी आह्लाददायक छात्रावस्था में बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। यहीं मैंने वस्तुतः उन्हें जाना और मुझे उनकी ज्ञान-पिपासा, उनकी तीव्र बुद्धि, कविता और साहित्य की उनकी गहरी समझ और उनके अंतःप्रेरणात्मक मूल्यांकन, वाद-विवाद में उनकी वाग्मिता, उनके विनोदपूर्ण संभाषणात्मक प्रवाह और सर्वोपरि उनकी सहृदयता को देखकर विस्मित रह गया।"[1]

शिशिर भादुड़ी ने सर्वप्रथम सन् 1908 में अपने महाविद्यालय में हुए 'जूलियस सीज़र' नाटक में ब्रूटस का अभिनय किया। यह बात तत्काल स्पष्ट हो गई कि उनमें एक अभिनेता की जन्मजात प्रतिभा थी। छात्र और शिक्षक के रूप में अपने अगले वर्षों में वे उसे विकसित कर सके। वे, सन् 1891 में कैंब्रिज और ऑक्सफर्ड यूनियनों की परिपाटी पर 'नवयुवकों के उच्चतर प्रशिक्षण की संस्था' के रूप में संस्थापित 'कलकत्ता युनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट' के सदस्य बन गए। इंस्टीट्यूट के क्रियाकलापों का एक भाग नाटकों का प्रदर्शन करना था। शिशिर भादुड़ी ने उनमें भाग लिया और जब वे सितम्बर, 1911 में सम्मानित दर्शकों के समक्ष, जिनमें नाटककार तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन वाइस चांसलर सर गुरुदास बैनर्जी भी शामिल थे, डी० एल० राय के नाटक 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य के रूप में आए तो उन्होंने दर्शकों को बेहद प्रभावित किया। नाटक के प्रस्तुतीकरण के लिए सावधानीपूर्वक अध्ययन किया गया था। डा० सुनीति चटर्जी ने तथ्यों को और सिकंदर के आक्रमण के दौरान और उसके बाद यूनानियों और भारतीयों द्वारा पहने जाने वाले वस्त्रों के आकार-प्रकार को समझने-बूझने में अनेक दिन और सप्ताह बिता दिए। विद्वान्-कूटनीतिज्ञ चाणक्य की केंद्रीय भूमिका एक विस्तृत बौद्धिक विश्लेषण पर आधारित थी। ये दोनों बातें रंगमंच के प्रति शिशिर भादुड़ी के उस दृष्टिकोण की परिचायक हैं जिसे उन्होंने आगे चलकर बंगला रंगमंच के विषय में अपनाया। वे युनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट के लिए और एक अव्यवसायी मंडली 'ओल्ड क्लब' के लिए अनेक अन्य नाटकों में आए, जिससे एक अभिनेता के रूप में उनकी ख्याति और भी अधिक फैली। टैगोर की पचासवीं वर्षगांठ मनाने के लिए सन् 1912 में प्रदर्शित उनके स्वयं के एक सुखांत नाटक में उनका अभिनय देखने के लिए गुरुदेव स्वयं आए।

हम यह पाते हैं कि अपनी युवा पत्नी के दिवंगत हो जाने के बाद कुछ वर्षों तक उन्होंने रंगमंच के प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई, तथापि, रुचि का आभासी लोप अल्पकालिक था। शीघ्र ही उन्होंने एक व्यावसायिक अभिनेता बनने के लिए

1. शंकर भट्टाचार्य द्वारा लिखित 'नाट्याचार्य शिशिर कुमार', पृ० 5-6; अनुवाद।

अपनी शिक्षक की नौकरी छोड़ दी। एक श्रेष्ठ व्यवसाय को एक बदनाम व्यवसाय के लिए छोड़ देना किसी बंगाली भद्र व्यक्ति के लिए अदूरदर्शितापूर्ण और अश्रुत-पूर्व कार्य था। यह वर्ष सन् 1921 था।

वे तीन नाट्यशालाएं, जो कि उस समय रामभरोसे चल रही थीं 'स्टार', 'मिनर्वा' और 'मनमोहन' थीं। शिशिर भादुड़ी उनमें नहीं गए और न ही, संभवतः, उनमें से किसी ने उन्हें आमंत्रित किया। उस समय तक कलकत्ता में सिनेमा आ चुका था और वहां एक पारसी व्यापारी जे० एफ० मदान के अनेक सिनेमा-घर थे और एक नाटक-घर भी था, जहां हिंदी और उर्दू के नाटकों का प्रदर्शन होता था। उन्होंने कलकत्ता के एक सिनेमा-घर को बंगला नाटकों के प्रदर्शन के लिए रंगशाला में परिवर्तित कर दिया। उन्होंने उसमें अभिनय करने के लिए शिशिर भादुड़ी को नियोजित किया। यह स्थिति विडंबनापूर्ण थी, क्योंकि रंगमंचीय प्रदर्शन के बारे में मदान की जो संकल्पना थी वह शिशिर भादुड़ी की संकल्पना से बहुत भिन्न थी। इस उद्घोषणा ने कि "शिशिर कुमार भादुड़ी, एम० ए०, कार्नवालिस थिएटर में क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद के नए नाटक 'आलमगीर' में मुख्य भूमिका में आएंगे" सनसनी फैला दी। मदान वस्तुतः कोई पौराणिक नाटक प्रदर्शित करना चाहते थे जिसमें वे धन से खरीदे जा सकने वाले सभी प्रकार के वस्त्रों का प्रदर्शन कर सकें और 'जादू-भरा भ्रम' उत्पन्न कर सकें। उन्होंने एक ऐतिहासिक नाटक प्रदर्शित करने की इच्छा व्यक्त की किंतु उन्हें मालूम नहीं था कि शिशिर भादुड़ी क्या चाहते थे। उस समय क्षीरोद प्रसाद राय एक नाटककार के रूप में 'स्टार' के वेतनभोगी थे। शिशिर भादुड़ी ने उन्हें 'कार्नवालिस' में आ जाने और उसके सर्वप्रथम उपक्रम के लिए एक नाटक लिखने का आग्रह किया। परिणामस्वरूप नाटक 'आलमगीर' लिखा गया।

यह नाटक 10 दिसंबर, 1921 को आरंभ हुआ और शिशिर भादुड़ी को उसमें तत्काल व्यक्तिगत सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दिया। लोगों ने उनकी प्रशंसा की और सामान्य वर्ग के लोग, विशिष्ट वर्ग के लोग, औसत नाटक-दर्शक तथा आलोचक—सभी यह नाटक देखने आए। उन्होंने ऐसा नाटक पहले कभी नहीं देखा था। साहित्यकारों, कवियों, चित्रकारों और अन्य बुद्धिजीवियों ने उसे देखकर उसकी सराहना की। आगे चलकर कवि-उपन्यासकार अचिन्त्य कुमार सेनगुप्त ने उसे ऐसे तीन अवसरों में से एक बताया जिन्हें उन्होंने इंद्रियातीतता को छूता हुआ पाया। डी० एल० राय के पुत्र दिलीप कुमार राय ने नाटक 'आलमगीर' और अन्य नाटकों को देखने के बाद शिशिर भादुड़ी की कला के संबंध में दो सुदीर्घ प्रशंसात्मक लेख लिखे। एक लेख में उन्होंने लिखा : "मुझे अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन और रूसी रंगमंच के प्रमुख अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का अभिनय देखने का सुअवसर मिला है। मेरा

यह विचार है कि रूसी अभिनेता कत्चालोव को छोड़कर मैंने शिशिर कुमार भादुड़ी से श्रेष्ठतर कोई भी अभिनेता नहीं देखा।"

तथापि, दिलीप कुमार राय के विचार शिशिर भादुड़ी के परवर्ती प्रदर्शनों को देखने पर हुए अनुभव पर आधारित थे, जब वे इच्छानुसार किसी नाटक का प्रदर्शन कर सकते थे। कार्नवालिस थिएटर में वे ऐसा करने के लिए पूर्णत: स्वतंत्र नहीं थे और उन्होंने जो कुछ किया वह यह था कि एक अभिनेता के रूप में उन्होंने अपनी प्रवीणता का प्रदर्शन किया। उनके नाटक उनकी प्रस्तुति-क्षमता के प्रमाण नहीं थे। वे अधिकाधिक कुंठित होते गए और उन्होंने सन् 1922 में कार्नवालिस थिएटर छोड़ दिया। अनिश्चितता के लगभग डेढ़ वर्ष बाद सन् 1924 में वे मनमोहन थिएटर को किराए पर ले पाए। अंतर्वर्ती समय में वे सर्वथा निष्क्रिय नहीं रहे और उन्होंने एक औद्योगिक मेले के मैदान में एक अस्थायी रंगमंच पर समय-समय पर नाटकों का प्रदर्शन किया, जिनमें डी० एल० राय का पौराणिक नाटक 'सीता' भी सम्मिलित था। वे चाहते थे कि जब कभी उनकी अपनी रंग-शाला हो तो वे इसी नाटक के साथ शुभारंभ करें। तथापि, इस बीच इस नाटक के अधिकार आर्ट थिएटर ने खरीद लिए थे, जिसने सन् 1923 में 'स्टार' को नियंत्रणाधीन ले लिया था। आर्ट थिएटर का यह कार्य नीचतापूर्ण था क्योंकि वह उसे प्रदर्शित करने का कोई इरादा नहीं रखता था और वह केवल शिशिर भादुड़ी को उसका प्रदर्शन करने से रोकना चाहता था। अविचलित न होते हुए शिशिर भादुड़ी ने अभिनेता जोगेश चौधरी को दूसरा 'सीता' नाटक लिखने को कहा। हुआ यह कि लगभग उसी समय मनमोहन थिएटर की स्थिति अच्छी नहीं चल रही थी और मई 1924 में उसके मालिक मनमोहन पांडे ने खुशी-खुशी वह थिएटर शिशिर भादुड़ी को किराए पर दे दिया।

आखिरकार शिशिर भादुड़ी को एक ऐसी रंगशाला मिल गई जो उनके नियंत्रणाधीन थी और वे अपने विचारों को पूर्ण रूप देने में संलग्न हो गए। उन्होंने नाट्यशाला का पूर्णत: पुनर्नवीकरण कराया। उसे 'नाट्यमंदिर' नाम दिया और 6 अगस्त, 1924 को नाटक 'सीता' के साथ उसका शुभारंभ किया। पुनराभिकल्पित प्रेक्षागृह, सजावट में पौर्वात्य मोटिफ, बैठने की नई व्यवस्था, चुस्त द्वारपाल, नया रूप दिया गया बाहरी भाग, पारंपरिक शैली में निर्मित और सज्जित मेहराबें, टिकटों पर बंगला लिपि में अंकित अक्षर और लोगों का स्वागत करते हुए शहनाई के स्वर—ये सभी चीजें इस बात की विजयाभिमान-पूर्ण घोषणा थीं कि प्राचीन को अपदस्थ कर नवीन आ गया था। प्रदर्शन इस संदेश की अंत:घोषणा करते थे और उस काल के संदर्भ में यह ऐसा मामला था जैसे "परदा अलग हुआ और एक नई रंगशाला का प्रादुर्भाव हुआ।"

अन्य रंगशालाओं के मालिकों ने वस्तुत: परिवर्तन को आता हुआ भांप लिया

था और उन्होंने उसकी अनुक्रिया की, भले ही वह अपर्याप्त थी। सन् 1919 में उनके 'मिनर्वा' को छोड़ कर 'स्टार' में चले जाने के पहले अपरेश मुखर्जी ने प्रबंध में कुछ सुधार किए। मालिक उपेन्द्र मित्र ने नरेश मित्र को लेकर, जो कि महाविद्यालय में शिशिर भादुड़ी के साथ थे और उनके इतने प्रभाव में थे कि उन्होंने वकालत को छोड़कर रंगमंच को अपना लिया था, इनका अनुवर्तन किया। यद्यपि वे और दूसरे युवा रंगरूट राधिकानंद मुखर्जी अपने साथ ताजगी लेकर आए थे किंतु उसमें स्थिति में परिवर्तन लाने की शक्ति नहीं थी। सन् 1922 में मिनर्वा थिएटर जल गया और तीन वर्ष पश्चात उसका पुनर्निर्माण हुआ। नवनिर्मित नाट्यशाला नई और चित्ताकर्षक थी, किंतु लगभग अन्य सभी चीजें पुरानी थीं। दर्शक अबौद्धिक मनोरंजन, मात्र सनसनीखेज बातें और अद्भुत रस-प्रधान नाटक चाहते थे, जैसा कि हमेशा हुआ करता था। मिनर्वा ने इस दर्शक वर्ग की प्रत्याशा की पूर्ति का प्रयास किया और वह सफल हुआ। इसके लिए उसने दानी बाबू और रंगमंच के पुराने आदमी अमृतलाल वसु का सहयोग मांगा और वह उसे मिला। अमृतलाल वसु का संगीतमय व्यंग्य नाटक 'व्यापिका विदय', जो कि शिक्षित महिलाओं पर लिखा गया था, बहुत लोकप्रिय हुआ। जब उसे सातवें दशक के आरंभ में, जब कलकत्ता का रंगमंचीय रूप पूर्णतः परिवर्तित हो गया था, एक तथाकथित अग्रिम रक्षक-मंडली ने प्रस्तुत किया तो वह और भी अधिक सफल हुआ। मिनर्वा अहीन्द्र चौधरी जैसे नई पीढ़ी के कुछ अभिनेताओं को लेकर, पुराने, आजमाए हुए नाटकों पर निर्भर रहते हुए और सामान्यतः हारते हुए पहले की भांति बहुत चलता रहा। टिकटों के दाम घटाकर और नाटकों का समय घटाकर, जो कि वह एकमात्र आवश्यक और उपयुक्त सुधार था जो कि उसने किया, वह वित्तीय विनाश से बचा रहा। सन् 1938 तक, जब उपेन्द्र मित्र ने मिनर्वा को छोड़ दिया और स्टार को किराए पर ले लिया, बंगला रंगमंच पुनः अवसाद और उपेक्षा के भंवर में फंस गया था। स्वामित्व में कुछ द्रुत परिवर्तन हुए और मिनर्वा थिएटर निर्मलेन्दु लाहिड़ी, दुर्गादास बनर्जी तथा श्रीमती शांति गुप्त जैसे अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का सहयोग पा सका, जो कि नए पीढ़ी के थे और जिन्होंने अपना स्थान बना लिया था। किंतु उसकी वित्तीय स्थिति में तब भी सुधार नहीं हुआ जब सचिन सेनगुप्त और विधायक भट्टाचार्य जैसे नए नाटककारों के नाटकों का प्रदर्शन किया गया। उदासीनता और असुरक्षा का सिलसिला चलता रहा। उसकी गलती यह थी कि उसने शिशिर भादुड़ी द्वारा उत्पन्न की गई लहर से लाभ नहीं उठाया। उपयुक्ततः वह ऐसी प्रथम रंगशाला थी जिसने नव-नाट्य आंदोलन के एक ओजस्वी प्रवर्तक के आक्रमण के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया, जिसमें पांचवें दशक के अंतिम वर्षों में और छठे दशक के आरंभिक वर्षों में एक क्रांतिकारी परिवर्तन का सूत्रपात

किया।

अपरेश मुखर्जी, जिन्होंने सन् 1920 में 'स्टार' को किराए पर लिया था, अधिक दूरदर्शी थे और रंगशाला का संचालन करने के अपने अनुभव से उन्होंने सही सबक सीखे थे। अपने हाथों में इतना कार्यभार लेकर, जितना वे पूरा नहीं कर सकते थे, उन्होंने सर्वप्रथम व्यापक नवीकरण किए। व्यय अनुमानों की अपेक्षा अधिक थे किंतु वह उनकी मुसीबतों की सिर्फ शुरुआत थी। उन्हें इस बात का अहसास होते देर न लगी कि उन्हें न केवल आग्रही व्यावसायिक समस्याओं पर ही ध्यान देना था, अभिनेताओं को भरती करना था और प्रशिक्षित करना था और प्रमुख भूमिकाएं करनी थीं, बल्कि नाटक भी लिखने थे। उन्हें इस बात का अहसास था कि जनता नए चेहरे और रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण की नई प्रणालियां चाहती थी। इसके लिए केवल नए अभिनेताओं को लेना और नए नाटकों का मंचन करना ही काफी नहीं था। नई प्रबंधकीय प्रणालियों का होना भी आवश्यक था। बहरहाल वे बढ़ते हुए कर्ज के बोझ से लद गए और उन्होंने अपनी परिसंपत्ति एक सीमित कंपनी 'दि आर्ट थिएटर लिमिटेड' को सौंप दी। कंपनी के संचालकों और ओजस्वी सचिव प्रबोध चन्द्र गुह ने दर्शकों की सुविधा और आराम का विशेष ध्यान रखते हुए नाट्यशाला में और भी नवीकरण किए। बेंचों के बदले मुड़वां कुर्सियां आईं, अधिक पंखे लगाए गए और हवादारी की अच्छी व्यवस्था की गई, एक सप्ताह पहले से ही टिकट खरीद सकने का प्रबंध किया गया। कंपनी के संचालकों ने समझदारी से काम लेकर अपरेश मुखर्जी को नियोजित किया। उन्होंने उन्हें नाटकों और अभिनेताओं का चयन करने की पूरी शक्ति देकर वास्तविक प्रस्तुतीकरणों का प्रभारी बनाया। अपने बोझों से राहत पाकर अपरेश मुखर्जी ने 'कर्णार्जुन' नाटक लिखा और प्रस्तुत किया, जिससे आर्ट थिएटर भलीभांति चल निकला।

यह नाटक, जो कि महाभारत के कुछ प्रमुख चरित्रों के जीवन संबंधी उपाख्यानों पर आधारित था, सर्वप्रथम 30 जून, 1923 को रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया। उसे भव्य सफलता प्राप्त हुई और लगातार दो सौ पचास रात चला। यह एक ऐसी अद्भुत घटना थी जो कि एक लंबे समय तक दुबारा नहीं हुई। दशक के शेष वर्षों में और चौथे दशक के प्रारंभिक कुछ वर्षों में आर्ट थिएटर ने औसत मध्यम श्रेणी के दर्शक को वे नाटक दिए जिनके लिए वह तैयार था। निस्संदेह वे शिशिर भादुड़ी द्वारा प्रस्तुत नाटकों की तुलना में कुछ भी नहीं थे, फिर भी उन्होंने बिरले ही सदभिरुचि की सीमाओं का उल्लंघन किया और वे सदैव सक्षमता का कतिपय स्तर बनाए रहे। नाटकों का चयन विवेक-पूर्वक किया जाता था। गिरीश घोष के प्रिय पुराने नाटकों के साथ-साथ डी० एल० राय, क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद तथा अपरेश मुखर्जी के नाटक भी प्रदर्शित

किए जाते थे। टैगोर के कुछ नाटक तथा उनकी कथाओं के नाट्य रूपांतरण भी प्रदर्शित किए गए। जहां तक अभिनेताओं-अभिनेत्रियों का संबंध है, उसने अहीन्द्र चौधरी, नरेश मित्र, तीन कौड़ी चक्रवर्ती (अभिनेत्री तीन कौड़ी नहीं), दुर्गादास बैनर्जी, सुशीला सुंदरी तथा कृष्णा भामिनी जैसे नए अभिनेताओं और नई अभिनेत्रियों को लिया। उसने दानी बाबू को भी फांस लिया। वस्तुतः शिशिर भादुड़ी भी कुछ समय के लिए, जब वे बेकार थे, उसमें आ गए थे। तथापि, आर्ट थिएटर अपने प्रथम प्रदर्शन की सफलता को कभी भी दोहरा न पाया। किंतु उसके अनेक पश्चातवर्ती नाटक भी, जिनमें एक उपन्यास लेखिका के दो अति-नैतिक उपन्यासों के नाट्य रूपांतरण भी शामिल थे, बुरे नहीं चले।

आर्ट थिएटर की सफलता तथा सुदीर्घ जीवन का श्रेय प्रबोध चन्द्र गुह को प्रबंधकीय योग्यता तथा अपरेश मुखर्जी, जिनके आर्ट थिएटर के अस्तित्व के उत्तरार्द्ध में अस्वस्थ हो जाने से आर्ट थिएटर की वित्तीय स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था, के कार्य को दिया जाना चाहिए। यद्यपि अपरेश मुखर्जी अभिनय या निर्देशन करने में असमर्थ हो गए थे, तथापि वे उसके लिए नाटक लिखते रहे। सन् 1934 में उनकी मृत्यु होने के एक वर्ष पूर्व, आर्ट थिएटर जो कि कर्ज के भारी बोझ से लदा हुआ था, उस मुकदमे में जो कि बंधकग्राही बैंक ने उसके विरुद्ध दायर किया था, हार गया और उसका अवसायन हो गया। उसका प्रादुर्भाव तब हुआ था जब बंगला थिएटर उस स्थिति से, जो कि निश्चित मृत्यु जैसी दिखाई देती थी, उबरने लगा था। जब परिक्षय और ह्रास के चिह्न पुनः दिखाई देने लगे तो वह समाप्त हो गया। इस बीच बंगला रंगमंच अपनी अत्यंत यशस्वी प्रावस्थाओं में से एक प्रावस्था से गुजरा और इसके लिए आर्ट थिएटर भी श्रेयांश का भागी है। उसने अनेक कालातीत सुधार किए। उसने लोगों की रंगमंच-उन्मुखता को प्रत्यावर्तित किया और उसे पर्याप्त प्रतिष्ठा दिलाई। उसने शिशिर भादुड़ी के धूम्रकेतुवत् उत्कर्ष के लिए, संभवतः न चाहते हुए भी, आधार-भूमि तैयार की। उसने एक सफल नाटक के रूप में एक पौराणिक नाटक के उनके चयन को प्रभावित किया। जब यह माना जाता था कि पौराणिक नाटकों में लोगों की रुचि नहीं रह गई है, आर्ट थिएटर द्वारा प्रस्तुत किए गए 'कर्णार्जुन' नाटक ने यह प्रदर्शित किया कि रामायण और महाभारत के चरित्रों और उपाख्यानों पर आधारित नाटकों ने अपना आकर्षण नहीं खोया था। ऐसे नाटकों का आकर्षण मात्र सुप्त हो गया था और वे केवल एक नये वेश, एक नई कथन-शैली और प्रस्तुति की एक नई प्रणाली के अपेक्षी थे। अंततः, आर्ट थिएटर ने यह सबक सीखा, जिस पर निस्संदेह शिशिर भादुड़ी ने ध्यान दिया था, कि केवल विवेचनशील और सुशिक्षित व्यक्तियों की प्रशंसा पाना ही पर्याप्त नहीं है। रंगशाला को औसत नाटक-दर्शकों को भी आकृष्ट करना पड़ात है। एक दशक से

भी अधिक समय तक आर्ट थिएटर ने यह कार्य सतत और यदा-कदा भव्य सफलतापूर्वक किया।

शिशिर भादुड़ी की चर्चा पर लौटने पर हम यह पाते हैं कि उद्घाटन-रात्रि को नाटक 'सीता' को जो प्रशंसा प्राप्त हुई उसमें हजारों बड़े और छोटे लोगों का स्वर सम्मिलित था। इस नाटक के एक हजार से भी अधिक प्रदर्शन हुए और शिशिर भादुड़ी ने दूसरे नाटकों के अतिरिक्त गिरीश घोष के नाटक 'जन' को चुना, जो कि तीस वर्षों से भी अधिक समय तक लोकप्रिय रहा था। उन्होंने नाटकों को अपने प्रदर्शनात्मक प्रयोजनों के उपयुक्त बनाने के लिए संपादित किया, जिससे अनेक व्यक्ति अप्रसन्न हो गए। किंतु लोग उन्हें देखने भारी संख्या में आए और उनमें से अधिक विवेचनशील लोगों ने समझा कि संपादन से नाटकों में कैसा सुधार हुआ था। अगले नाटक व्यवसाय की दृष्टि से उतने सफल नहीं हुए और दो वर्षों से भी कम समय में 'नाट्य मंदिर' को बंद कर देना पड़ा। उसके बंद हो जाने का कारण जनता के समर्थन का अभाव उतना नहीं था जितना कि शिशिर भादुड़ी की विवेकहीन फिजूलखर्ची और वित्तीय मामलों के संबंध में उनकी अरुचि और अयोग्यता। 'नाट्यमंदिर' की नाट्यशाला की किराएदारी का नवीकरण नहीं हुआ और स्वयं को एक सीमित कंपनी में रूपांतरित कर वह कार्नवालिस थिएटर के रंगमंच पर चली गई।

कार्नवालिस नाट्यशाला में नए नाट्यमंदिर की विद्यमानता की इसी कालावधि में जो कि चार वर्षों से कुछ कम थी, शिशिर भादुड़ी अपनी ख्याति के शिखर पर पहुंचे और उन्होंने सर्वोत्तम प्रदर्शन किया। यहीं उन्होंने अपने कुछ महानतम नाटक प्रस्तुत किए और अपने अभिनय से दर्शकों को मंत्रमुग्ध किया। 'सीता' के अतिरिक्त उन्होंने क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद के पौराणिक नाटक 'नरनारायण' तथा जोगेश चौधरी के ऐतिहासिक नाटक 'दिग्विजयी' जैसे नए नाटक प्रदर्शित किए। उन्होंने दीनबंधु मित्र के नाटक 'सधाबर एकादशी', गिरीश घोष के नाटक 'प्रफुल्ल' तथा 'बलिदान', डी० एल० राय के 'शाहजहां' और अनेक पुराने जनप्रिय नाटकों को पुनरुज्जीवित भी किया। यहीं उन्होंने उपन्यासकार शरतचंद्र चटर्जी का परिचय रंगमंच को दिया और टैगोर के अनेक नाटकों को प्रस्तुत किया। सन् 1929 के आखिर में उन्होंने टैगोर के एक आरंभिक नाटक के एक नये संस्करण का मंचन किया। शिशिर भादुड़ी के लिए यह एक सहज-गोचर असफलता थी, एक नया अनुभव था। कुछ महीने बाद कंपनी को नाट्यशाला छोड़ देनी पड़ी क्योंकि मदान ने, जो कि उसके मालिक थे, किराएदारी के नवीकरण से इनकार कर दिया।

अपने स्वयं के किसी रंगमंच या रंगशाला के बिना शिशिर भादुड़ी ब्राडवे के संचालक के निमंत्रण पर संयुक्त राज्य अमेरिका जाने के पूर्व कुछ समय आर्ट

थिएटर में रहे। यह प्रथम अवसर था जब किसी भारतीय मंडली को अमेरिका में प्रदर्शन करने के लिए आमंत्रित किया गया था। यह यात्रा विनाशकर सिद्ध हुई। 'सीता' के लेखक जोगेश चौधरी ने, जो कि इस मंडली के साथ एक अभिनेता के रूप में गए थे, एक दैनिकी लिखी थी, जिसमें अमेरिका में व्यतीत हुए दिनों का विवरण मिलता है। उसे पढ़कर दुख होता है। प्रवर्तकों के कुप्रबंध, अज्ञान, असद्भाव, दर्शकों में दूरदृष्टि और तत्परता की कमी, एक-दूसरे की परंपराओं और संस्कृति से परिचित न होने कारण स्थिति अटपटी हो गई। कुंठित करने वाले और मनोबल गिराने वाले महीनों बाद स्थिति में अंशतः सुधार हुआ और न्यूयार्क में जनवरी 1931 में वांडरबिल्ट थिएटर में अंततः 'सीता' का प्रदर्शन हुआ। उसकी उत्कृष्ट समीक्षाएं हुईं। 'न्यूयार्क सन' के नाटक-समीक्षक ने लिखा है कि "मेरे विचार से, निश्चय ही दि मास्को आर्ट थिएटर के अपवाद को छोड़कर, उनका अभिनय किसी भी विदेशी नाटक मंडली के अभिनय से तुलनीय है।" 'दि न्यूयार्क अमेरिकन' ने शिशिर भादुड़ी की प्रशंसा में कहा कि वे "एक श्रेष्ठतम अभिनेता" थे। जबकि 'इवनिंग वर्ल्ड' ने लिखा कि "शिशिर भादुड़ी को राम के रूप में देखना अतिशय हर्षदायक था। उनका स्वर घंटियों के नाद जैसा था, उनका अभिनय, जो कि एक भी शब्द न समझने वाले दर्शकों को कथा स्पष्टतः समझा देता था, इतना परिपूर्ण था कि शब्द अनावश्यक हुए होते।"[1] किंतु समीक्षाओं से अधिक सांत्वना नहीं मिली क्योंकि तब उनसे लाभ उठाने का समय नहीं बच रहा था और हताश मंडली अवसर पाते ही भारत लौट आई।

उसी वर्ष (सन् 1931 में) दो नई रंगशालाओं का निर्माण हुआ। ये दोनों रंगशालाएं 'स्टार' के पड़ोस में निर्मित हुईं। अमेरिका से लौटने के बाद, शिशिर भादुड़ी ने उनमें से एक रंगशाला में कुछ रात्रियों में अभिनय किया और फिर दूसरी रंगशाला 'रंगमहल' में लगभग डेढ़ वर्ष के लिए चले गए। आर्ट थिएटर का अवसायन हो जाने के बाद शिशिर भादुड़ी को पुनः एक रंगशाला का निमंत्रण प्राप्त हुआ। उन्होंने उस अवसर का लाभ उठाया और वे 'स्टार' के किराएदार बन गए। उन्होंने अपने नाट्यमंदिर को 'नवनाट्यमंदिर' नाम दिया जिसने जनवरी, 1934 में प्रथम प्रदर्शन किया। सन् 1937 में शिशिर भादुड़ी ने पुनः एक बार स्वयं को ऐसी स्थिति में पाया जब उनके पास कोई रंगशाला या अभिनय करने का कोई स्थान नहीं था। लगभग चार वर्षों तक, केवल फिल्मों में काम करने और समय-समय पर नाटक प्रदर्शन करने के अतिरिक्त वे अधिकांशतः निष्क्रिय थे। उन्हें सन् 1941 में एक अन्य नई नाट्यशाला को जिसका तभी प्रादुर्भाव हुआ था, किराए पर लेने का अवसर मिला। उन्होंने उसे ले लिया और उसे 'श्रीरंगम'

1. वही, पृ० 202.

नाम दिया और उनके उस कार्यकाल का आरंभ हुआ जो कि रंगमंच में व्यतीत किए गए उनके समय की अंतिम प्रावस्था थी। लगभग पंद्रह वर्षों तक वे वहां रहे। यह वह सबसे लंबा समय था जब वे किसी एक स्थान पर रहे और जब उनके नियंत्रणाधीन एक रंगशाला थी। उन्होंने अपने सुदीर्घ कार्यकाल के दौरान विविध प्रकार के पुराने, नए, बुरे तथा उदासीन नाटकों का प्रदर्शन किया। किंतु उनमें से कुछ नाटकों की सफलता के बावजूद श्रीरंगम का ह्रास होता गया। समय बदल गया था और बंगाल तथा कलकत्ता के लोगों को त्रासद अनुभव हुए थे। एक के बाद दूसरा नाटक व्यवसाय की दृष्टि से असफल होता गया, कर्ज बराबर बढ़ता गया, किराए का भुगतान नहीं किया जा सका। जनवरी, 1956 में वे उससे अलग हो गए। तीन वर्ष बाद 29 जून 1959 को उनकी मृत्यु हो गई। इस समय वे भ्रम से मुक्त, निर्धन और कटु अनुभव लिए हुए मनुष्य थे।

बंगला रंगमंच को शिशिर भादुड़ी के योगदान या उनसे संबंधी कोई भी निर्धारण, भले ही वह अंतिम हो, उनके काल के संदर्भ में ही किया जा सकता है। नाटक का स्वरूप ही ऐसा होता है कि उसे वर्तमान काल से संबद्ध रहना पड़ता है, सामने बैठे दर्शकों को संप्रेषण करना पड़ता है न कि भविष्य के दर्शकों को। ऐसे संप्रेषण की गुणवत्ता अधिकांशतः सही नाटकों की उपलब्धता पर निर्भर होती है। शिशिर भादुड़ी बहुधा अपनी इस दुःखद परिस्थिति पर शंकाएं व्यक्त किया करते थे कि उन्हें तीसरे दर्जे के नाटकों पर निर्भर रहना पड़ता था। गिरीश घोष के विपरीत उन्होंने स्वयं नाटक नहीं लिखे, यद्यपि अनेक नाटकों की रचना में उनका योगदान था।

नाट्य साहित्य की असमर्थकारी परिसीमाओं के प्रति उनकी वेदना को समझा जा सकता है। डी० एल० राय तथा क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद ने अपनी नई कथन-शैली और ताजी नाट्य शैली के जरिए उसमें ओज और विविधता का संचार किया था। डी० एल० राय दिवंगत हो चुके थे और क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद अपने अधिकांश नाटक लिख चुके थे। शिशिर भादुड़ी जैसे नाटकों की आशा करते थे और जैसे नाटक उन्हें मिलने चाहिए थे वैसे नाटक लिखने वाला कोई भी नया नाटककार अस्तित्व में नहीं था। वे अधिकांश नाटक, जिन्हें लेकर उन्होंने ऐसे अनूठे रंगमंच का निर्माण किया, बहुत निकृष्ट हैं। वस्तुतः तीसरे दशक में किसी भी उल्लेखनीय नाटककार का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। अधिक-से-अधिक, हम अपरेश मुखर्जी जैसे कुछ 'अवलंबनीय' नाटककारों को पाते हैं। केवल दशक के अंत में कहीं जाकर मन्मथ राय, सचिन सेनगुप्त तथा विधायक भट्टाचार्य जैसे कुछ नाटक-कारों का आविर्भाव हुआ, जो समकालीन मानवीय और सामाजिक समस्याओं के प्रति और नाट्य लेखन के भिन्न मानदंडों के विकास की आवश्यकता के प्रति

जागरूकता प्रदर्शित करते थे। बहरहाल, शिशिर भादुड़ी नाटकों के साहित्यिक गुणों पर बहुत अधिक निर्भर नहीं रहते थे। उनकी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने मामूली और मामूली से भी बदतर नाटकों को लेकर अच्छे रंगमंच का निर्माण किया।

बंगला रंगमंच के इतिहास में शिशिर भादुड़ी गिरीश घोष के बाद अत्यंत उत्कृष्ट व्यक्ति क्यों थे ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए समकालीन मूल्यांकन उपयोगी है, विशेषतः इसलिए क्योंकि, पूर्वतर पीढ़ियों के विपरीत, मूल्यांकन में आलोचना का संदर्भ-क्षेत्र व्यापक था। विशेषतः रंगमंच पत्रिका 'नाचघर' ने मूल्यांकन के सामान्य स्तर को ऊंचा उठा दिया था। द्वितीयतः, प्रशंसकों की प्रतिष्ठा उनके विचारों को महत्त्वपूर्ण बना देती है। तृतीयतः, अपने लंबे कार्यकाल के कारण उन्हें दर्शकों के रूप में नाटक-दर्शकों की अनुक्रमिक पीढ़ियां मिली थीं, जिनमें वे युवक भी शामिल थे जिन्होंने आगे चलकर नव-नाटक आंदोलन का सूत्रपात तथा अग्रणीत्व किया। उस वस्तु के प्रति, जो उनके लिए पुराना रंगमंच था, 'आदर' प्रदर्शित करने का कोई कारण न होने और इसके विपरीत, उनकी कार्यप्रणाली को अस्वीकार करने का हर कारण होने की वजह से उनके विचारों को शिशिर भादुड़ी के चहेतों के विचारों की अपेक्षा अधिक वस्तुनिष्ठ और निष्पक्ष माना जा सकता है।

वे अपने कार्यकाल के आरंभ से ही लोकप्रिय थे और उन्हें सभी प्रकार के लोगों से जो प्रशंसा प्राप्त हुई वह कभी भी समाप्त नहीं हुई। सुप्रसिद्ध रचनाकार टैगोर ने उनकी प्रशंसा की और उन्हें प्रोत्साहित किया। डा० सुनीति चटर्जी ने उन्हें "अपने समय के संचयातीत रूप से उत्कृष्ट" अभिनेता कहा।" 'आलमगीर' नाटक देखने के बाद दिलीप कुमार राय ने एक साहित्य-समीक्षक के उन शब्दों को दोहराया जो उसने एक प्रसिद्ध लेखक के बारे में कहे थे : "युवको ! यह एक प्रतिभाशाली व्यक्ति है, इसे अभिवादन करो।" अनेक अन्य व्यक्तियों ने यही कहा, जिनमें से कुछ तो ऐसे थे जो बंगला भाषा नहीं जानते थे और अन्य रंगमंचीय परंपराओं के लोग थे। सन् 1951 में रूसी फिल्म-निर्देशक पुदोव्किन तथा अभिनेता चर्कासोव कलकत्ता आए और उन्होंने शरतचंद्र चटर्जी के नाटक 'षोडसी' में दु:खी मद्यप नायक जीवानंद के रूप में शिशिर भादुड़ी का अभिनय देखा। कहा जाता है कि उनका अभिनय देखने के बाद पुदोव्किन ने उनसे कहा था, "आप एक महान कलाकार हैं। क्या आप जानते हैं कि क्यों ? जैसे ही आप रंगमंच पर आते हैं वैसे ही आप दर्शकों को आकृष्ट कर लेते हैं···। जैसे-जैसे नाटक आगे बढ़ता है आपका प्रत्येक हाव-भाव और स्वरारोह-अवरोह उन्हें मुग्ध कर देता है। कुछ समय बाद मानो वे वैयक्तिकता का बोध खो बैठते हैं और पूर्णतः मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। उसके बाद आप एक प्रवीण जादूगर की तरह उनके सामने वैसा चरित्र प्रस्तुत करते हैं

जैसा आप चित्रित करना चाहते हैं और वे उसे पूर्णत: प्रामाणिक चरित्र के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।"[1] चर्कासोव ने उनकी और भी अधिक प्रशंसा की : "आप एक महान अभिनेता हैं, उतने महान जितने कि मास्को आर्ट थिएटर के स्तानिस्लास्की... । आप एक महान कलाकर हैं।" सर लेविस कैसन तथा डेम सिबिल थार्नडाइक ने उन्हें सन् 1954 में देखा, जब आयु और प्रतिकूल परिस्थितियों ने उन्हें आहत कर रखा था। नाटक देखने के बाद ये सुप्रसिद्ध पति-पत्नी मंच पर गए और एकत्र अभिनेताओं तथा दर्शकों के सामने उन्होंने कहा कि दि एबी थिएटर के समय के बाद से उन्होंने ऐसा अभिनय नहीं देखा था। उनकी मृत्यु के केवल दो वर्ष पूर्व अमरीकी आलोचक तथा रंगमंच-प्रेमी डा० रोज़ामंड गिल्डर ने शिशिर भादुड़ी को उनके एक दुर्लभ प्रदर्शन में देखा था, जो कि उनके रंगमंच से निवृत्त हो जाने के बाद हुआ था। नाटक समाप्त होने के बाद वे ग्रीन रूम में गई और उन्होंने उनसे कहा, "मिस्टर भादुड़ी, आप विश्व के एक महानतम अभिनेता हैं।"

ऐसे साक्ष्य के होते हुए भी अभिनेता के रूप में शिशिर भादुड़ी की महानता पर शंका करना बेहूदगी होगी। निस्संदेह अपने पूर्ववर्त्तियों की तुलना में उन्हें कतिपय लाभ प्राप्त थे। उनकी औपचारिक शिक्षा और बुद्धिमान तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों के सान्निध्य से उनकी मेधा और संवेदनशीलता समृद्ध हुई। उनका आविर्भाव भी एक ऐसे समय में हुआ था जब रंगमंच बंगाली मध्यम वर्ग के सामाजिक जीवन का बहुत-कुछ एक अंग बन गया था और इस रूप में स्वीकार कर लिया गया था। यह तथ्य कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर सर आशुतोष मुखर्जी ने शिशिर भादुड़ी को शिक्षक का व्यवसाय छोड़कर एक व्यावसायिक अभिनेता बनने की सहमति दे दी थी, सामाजिक अभिमत में हुए परिवर्तन का परिचायक है। पूर्वतर बंगला रंगमंच को विद्वानों और भद्र लोगों का समर्थन तथा प्रश्रय प्राप्त था। किंतु ऐसे समर्थन के साथ सामाजिक स्वीकृति की कतिपय अपरिभाषित किंतु सुदृढ़ सीमाएं भी थीं। व्यावसायिक रंगमंच के अभिनेता को सराहा जाता था, सम्मानित भी किया जाता था, किंतु उसे सामाजिक घनिष्ठता के क्षेत्र के भीतर स्वीकार नहीं किया जाता था। अभिवृत्तियां बदल गई थीं और तुलनात्मक दृष्टि से शिशिर भादुड़ी के लिए खतरा उठाना आसान था। अंततः, वे रंगमंच पर तब आए जब वह अपने खालीपन के चरम बिंदु पर था। इस प्रकार उन्हें कुछ हद तक धारा के विरुद्ध तैरने का परिश्रम न करना पड़ा। वस्तुत: धारा थी ही नहीं। रंगमंच के प्रति लोगों में जो तिरस्कार का भाव था वही उनके लिए हितावह था।

1. वही, पृ० 246.

तथापि, यदि शिशिर भादुड़ी में असाधारण प्रतिभा न होती तो न तो बदली हुई अभिवृत्ति का ही कोई लाभ हुआ होता और न उपयुक्त अवसर का। अभिनेता तथा निर्देशक दोनों ही रूपों में उन्होंने उनका उपयोग निष्ठायुक्त उत्साह के साथ किया। एक अभिनेता के रूप में वे अद्वितीय थे और बंगला रंगमंच के वैसे प्रथम निर्देशक-प्रस्तुतकर्त्ता थे जिस अर्थ में अब इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। दोनों ही बातों का कुछ विशदीकरण आवश्यक होगा।

शिशिर भादुड़ी के अभिनय के बारे में पहली उल्लेखनीय बात यह है कि उसमें वह मूर्धन्यता थी जो कि पहले नहीं देखी गई थी। बंगला रंगमंच में भावात्मक अभिव्यंजकता, नायकोचित हाव-भाव तथा उत्तेजनापूर्ण अतिरेक पर पारंपरिक रूप से बल दिया जाता था। यह जात्रा नाटकों के उच्च स्वर में एक ही लय में किए जाने वाली शब्दोच्चार-प्रणाली और रीतिगत अभिनय का प्रभाव था। कलकत्ता में व्यावसायिक रंगमंच की नींव डालने में अग्रणी अभिनेताओं तथा प्रबंधकों को सचेतन या अचेतन रूप में जात्रा शैली पर, जिससे जनता सुपरिचित तथा सुप्रसन्न थी, निर्भर रहना पड़ता था। निस्संदेह, अनेक अभिनेताओं ने उसकी कुछ कोलाहलपूर्ण बातों से मुक्ति पा ली थी। मूलपाठ के अध्ययन तथा विश्लेषण में उत्साह, अवबोध और तत्परता का अभाव नहीं था। किंतु शिशिर भादुड़ी के पूर्व किसी भी व्यक्ति में तीक्ष्ण बुद्धि तथा अभिनय के व्यवसाय पर मस्तिष्कीय नियंत्रण आरोपित करने की क्षमता नहीं थी और न ही किसी व्यक्ति में समग्र नाटक के अंगों के रूप में चरित्रों के निर्वचन की मानसिक प्रांजलता थी। उनकी प्रशिक्षण प्रणालियों से, यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मंचित नाटक को एक पृथक सत्ता के रूप में मानते थे। वे निर्वाक अभिनेताओं को भी उतनी ही सावधानीपूर्वक प्रशिक्षित किया करते थे जितनी सावधानी वे सवाक अभिनेताओं को प्रशिक्षित करने में बरतते थे। यह तथ्य नाटकों के उनके 'संपादन' से स्पष्ट हो जाता है। वे अनेक अंशों को काट देते थे, चरित्रों को निकाल देते थे, मूलपाठगत अनुक्रमों को बदल देते थे—ये परिवर्तन ऐसे हुआ करते थे जिनसे लेखक बहुधा दुःखी हो जाते थे। निरपवाद रूप से ये परिवर्तन नाटक में सुधार लाते थे। शिशिर भादुड़ी की बौद्धिक विषय-वस्तु पर अनेक व्यक्तियों ने लिखा है। जिन लोगों ने उनके साथ कार्य किया था और उन्हें सावधानीपूर्वक देखा था उन व्यक्तियों के वृत्तांतों से भी कुछ जानकारी मिल सकती है। वे बहुधा यह बताते हैं कि वे किन साधनों से अपने साध्यों को प्राप्त किया करते थे। इस प्रकार, मनोरंजन भट्टाचार्य ने, जो कि आगे चलकर नव-नाट्य आंदोलन के एक प्रकार से जनक बने, लिखा है कि किस प्रकार चिह्नांकन में एक साधारण परिवर्तन द्वारा उन्होंने डी० एल० राय के नाटक 'चंद्रगुप्त' में चाणक्य के स्वगत-भाषण को अधिक सुसंबद्ध अभिधार्थ दिया। नाटक 'दिग्विजयी' में नादिरशाह की भूमिका में वे कमानीदार टांगों वाले व्यक्ति

के चलने का ढंग अपनाते थे जो कि बमुश्किल नजर आता था, किंतु अभ्यस्त अश्वारोही के लिए स्वाभाविक था। अनेक ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं। शिशिर भादुड़ी बहुधा निराश होकर कहा करते थे कि अधिकांश लोग, जिनमें समीक्षक भी शामिल थे, उनके संकेतपूर्ण, व्याख्यात्मक अभिनय के छायार्थों को समझ नहीं पाते थे।

शिशिर भादुड़ी के पास ऊंचे कद या अच्छे नाक-नक्श जैसी पूंजी नहीं थी। उनका रंग गोरा था किंतु वे नाटे और मोटे थे। वे खूबसूरत नहीं थे और आपसी बातचीत में वे अपने नाक-नक्श का मजाक बनाया करते थे किंतु उनका शरीर मजबूत और लचीला था, उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी, उनकी आवाज अद्भुत थी और उनमें असीम ओजस्विता थी। उनकी प्रभावशाली उपस्थिति और उनके अद्वितीय व्यक्तित्व से उनकी त्रुटियां आसानी से निष्प्रभावी हो जाती थीं। अपने लाभों का उन्होंने सचेतन विमर्शपूर्वक उपयोग किया। उन्होंने अपने नैसर्गिक गुणों को सुदीर्घ तथा परिश्रमपूर्ण प्रशिक्षण द्वारा विकसित किया। किंतु जिस बात ने उन्हें एक महान अभिनेता बना दिया वह उनका वह मायावी अतिरिक्त गुण था जो कि एक प्रदर्शनकर्ता को कलाकार बना देता है। कोई छोटा हाव-भाव प्रदर्शित करना, अचानक चुप हो जाना, स्वर को अप्रत्याशित रूप से रोक देना, गति के भव्य प्रदर्शन और अन्य सैकड़ों बातों को, जिन्हें कम क्षमता के किसी अभिनेता ने व्यवसाय की चालाकियों के रूप में उपयोग में लाया होता, उन्होंने सृजन के प्ररित क्षणों के रूप में परिवर्तित कर दिया था। विभिन्न माध्यमों में, विशेषतः किसी रंगमंच पर कुछ घंटे अभिनय करने जैसी अल्पकालिक गतिविधि की सृजनात्मकता को शब्दों में संप्रेषित करना आसान नहीं है। किंतु हमारे समय के महानतम अभिनेता शंभु मित्र द्वारा किए वर्णन से, जिन्होंने शिशिर भादुड़ी की गतिविधियों को कई रात देखा था और उनके साथ अभिनय किया था, ऐसे क्षणों के विद्युत्कारी प्रभावों की कुछ जानकारी मिल सकती है। अपने एक निबंध में वे क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद के नाटक 'रघुवीर' तथा शिशिर भादुड़ी द्वारा अभिनीत उसके केंद्रीय चरित्र का उल्लेख करते हैं। यह नाटक एक आदिवासी रघुआ पर लिखा गया है जिसे एक ब्राह्मण पुजारी ने पाला-पोसा था और रघुवीर नाम दिया था। भावात्मक संकट के एक क्षण में वह अपने पालक पिता द्वारा दिए गए प्रेम, सहिष्णुता तथा अहिंसा के उपदेश को भुला देता है और भीषण प्रतिशोध की पैतृकानुवृत्ति अपना लेता है। शंभु मित्र जिन्होंने विश्व के अनेक भागों में प्रसिद्ध अभिनेताओं का अभिनय देखा है और जो शिशिर भादुड़ी की आलोचना भी करते रहे हैं, लिखते हैं: "जब रघुवीर रघुआ में बदल जाता है तो चरम बिंदु पर उसकी बराबरी का अभिनेता पाने के लिए हमें विश्व के महान अभिनेताओं को ढूंढ़ना होगा। उन्हें देखकर ही यह समझा जा सकता था, कैसे कोई शारीरिक गति

जो कि हास्यास्पद जैसी थी, उदात्त गति में परिवर्तित हो सकती थी। जैसे ही दर्शक कहकहा लगाने को होते वे अपने अविस्मरणीय अभिनय द्वारा दर्शकों को हंसने से रोक देते थे। मुझे ऐसा लगता था कि वे मेरे मन को एक तेज भयानक उड़ान में उड़ा ले जाते थे और मुझे आकाश में मृत्यु के सम्मुख रख देते थे।"[1] शिशिर भादुड़ी ऐसे मंत्रमुग्धकारक क्षणों का निर्माण उस गुण के आधार पर करते थे जिसे हमारे समय के एक अन्य प्रतिभाशाली अभिनेता उत्पल दत्त ने तकनीक की प्रवीणता कहा है। एक लेख में वे लिखते हैं : "महान अभिनेता ? निश्चय ही, इसमें कोई संदेह नहीं। सन् 1945 से 1951 तक मैंने शिशिर भादुड़ी को अनेक बार देखा। मैं दोहराता हूं कि वे इस शताब्दी में हमारे रंगमंच के—तकनीक के महानतम आचार्य थे···तकनीकी दृष्टि से वे परिपूर्णता की एक ऐसी अवस्था में पहुंच गए थे कि दर्शक उन्हें मात्र विस्मय से देखता रह जाता था।"[2]

संभवतः शिशिर भादुड़ी को स्वाभाविकतावादी परंपरा का कहा जा सकता है। किंतु उनका स्वाभाविकतावाद तादात्म्य के स्वाभाविकतावाद से कुछ अधिक था। वे स्वयं को चरित्र में 'खो' नहीं देते थे। तब भी जब वे अपने पात्रों के भाग्य के उलटफेर से दर्शकों को दुःखी करते थे या हंसाते थे, वे एक 'दूरी' बनाए रखते थे मानो कि उनके कार्य की ओर देखने वाला कोई बाहरी व्यक्ति बाधाकारी रूप से उपस्थित हो। एक प्रेक्षक परिदर्शक के मात्र श्रव्य आदेश उनके स्वाभाविकतावाद को उपांतरित करते थे, फिर भी वे अपने दर्शकों के हृदय में तदनुभूति की अमिश्रित लहरें उत्पन्न कर सकते थे। पूर्वोल्लिखित लेख में उत्पल दत्त उनकी 'वस्तुनिष्ठता', अभिनय करते समय स्वयं का प्रेक्षण करने की योग्यता पर जोर देते हैं।

यद्यपि शिशिर भादुड़ी एक अभिनेता के रूप में महान थे, तथापि एक निर्देशक के रूप में बंगला रंगमंच के पुनरुत्थान में उनका योगदान महानतर था। वे ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने नाटक को एक ऐसा उपादान समझा था जिसे रंगमंच के निबोधनों पर रंगमंचीय रूप दिया जाना था। उनके पूर्व अभिनेता पर ही पूरी तरह ध्यान दिया जाता था और वह भी अलग-अलग रूप में। न्यूनाधिक रूप में, प्रत्येक अभिनेता, प्रमुख अभिनेता तो हर हालत में, प्रकाश में आना चाहता था और दूसरों को पराभूत करने का भरसक प्रयास करता था। नाटक उनकी सहायता करते थे क्योंकि, निःसंदेह अपवादसहित, नाटक इस या उस अभिनेता को दृष्टि में रखकर लिखे जाते थे। वे ऐसी अनेक 'अभिनय योग्य' रचनाओं से अधिक नहीं थे, जो उनके स्वर तथा अभिनय संबंधी ओज के प्रदर्शन

1. अनुवाद।
2. पत्रिका 'अन्य मने', तृतीय वर्ष, तृतीय अंक, पृ० 125.

के लिए लिखी और प्रस्तुत की गई थीं। गिरीश घोष, अमृतलाल वसु तथा अमरेन्द्र दत्त जैसे बड़े-बड़े अभिनेता भी हो चुके थे, जो कि अपने बोध के अनुसार नाटक प्रस्तुत किए जाने के आदेश दे सकते थे और दिया करते थे, किंतु किसी भी व्यक्ति में शिशिर भादुड़ी का रंगमंच-बोध और उसे थामने की बौद्धिक क्षमता नहीं थी। अपने साध्यों को प्राप्त करने के लिए उन्होंने रंगमंच अभिकल्प, वेशभूषा, प्रकाश व्यवस्था आदि में अनेक परिवर्तन किए। उन्होंने अनेक पुरानी पड़ चुकी प्रथाओं, उदाहरणार्थ, 'पूर्वरंग' को त्याग दिया। उन्होंने फुटलाइटों को निकाल दिया और प्रकाश का उपयोग विभिन्न स्थितियों तथा कोणों से किया। उन्होंने स्थान का उपयोग मंच की नेपथ्यता को आयाम देने के लिए किया। अपने रंगपटों के अभिकल्पन तथा अभिविन्यास में उन्होंने उनकी कलात्मक तथा क्रियात्मक आवश्यकताओं को संयुक्त किया। विभिन्न स्तरों पर रंगपटों के अभिकल्पन तथा अंतरालन में वे न केवल दृश्य रूप से आकर्षक बने बल्कि वे प्रामाणिकता का प्रभाव संप्रेषित करते थे। इसी के साथ विभिन्न स्थानिक स्तर अभिनेताओं के आगमन और निर्गमन के लिए पारंपरिक रंगमंच के 'पार्श्वों' की अपेक्षा अधिक स्थान देते थे और उन्हें इधर-उधर आने-जाने के लिए अधिक स्थान मिलता था। उसमें, आवश्यकता पड़ने पर, अधिक पात्र समा सकते थे। वेशभूषा बहुत सोच-विचार कर और ऐतिहासिक सामग्री का अध्ययन करने के बाद तैयार की जाती थी। इनसे और नृत्य तथा संगीत में भारतीय अभिप्राय होने से उनकी प्रस्तुतियों में भारतीय छवि और संवेदना आ जाती थी, जो कि पहले नहीं पाई जाती थी। सर्वोपरि, वे अभिनेताओं के अपने दल को कथावस्तु तथा उनके द्वारा निश्चित की गई शैली के साथ ऐक्य प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित करते थे। अनेक ऐसे अभिनेताओं को, जिन्होंने आगे चलकर प्रसिद्धि तथा लोकप्रियता प्राप्त की, उन्होंने कथन-शैली, उच्चारण, स्वर-नियंत्रण, शरीर-संचलन तथा अभिनय की अनेक अन्य तकनीकों का प्रशिक्षण दिया था।

गिरीश घोष ने बंगला रंगमंच की नींव डाली और उसे सुदृढ़ किया और अमरेन्द्र दत्त ने उसे जन-आधार दिया। शिशिर भादुड़ी ने उसे प्रतिष्ठा तथा आदरणीयता प्रदान की। उनका आविर्भाव एक ऐसे काल में हुआ जब साहित्य, चित्रकला, संगीत के क्षेत्र में बहुत निर्माणशीलता थी और अधिगम के विभिन्न क्षेत्रों में विस्तार हो रहा था। ऐसे परिवेश में उस रंगमंच को, जिसे तब तक एक उभयभावी तिरस्कारपूर्ण अनुराग माना जाता था, बुद्धिजीवी के लिए एक गंभीर अनुष्ठान के रूप में सहारा देना और जीवित रखना कोई मामूली उपलब्धि नहीं थी।

मोनी बागची द्वारा लिखित 'शिशिर कुमार ओ बांगला थिएटर' नामक ग्रंथ के एक परिशिष्ट में शिशिर भादुड़ी द्वारा अभिनीत भूमिकाओं की एक सूचि दी

गई है। उनकी छात्रकालीन तथा अध्यापनकालीन भूमिकाओं को छोड़ देने पर उनकी संख्या अस्सी आती है। यह पूर्वानुमान किया जा सकता है कि उन्होंने प्रत्येक भूमिका को कुछ नुभिन्नता दी होगी। किन्तु उनकी वे अत्यंत प्रसिद्ध भूमिकाएं जिन्होंने अधिकतम दर्शकों को हर्षित किया, वे भूमिकाएं जो बंगला रंगमंच के इतिहास और कथा का अंग बन गई हैं, लगभग एक दर्जन थीं। जिन लोगों ने उन्हें देखा है उनमें से बहुत कम लोग राम (सीता में), रघुवीर (रघुवीर में) चाणक्य (चंद्रगुप्त में), आलमगीर (आलमगीर में), नादिरशाह (दिग्विजयी में) तथा जीवनानन्द (षोड्शी में) के रूप में उनकी ओजस्वी उपस्थिति को भूल नहीं सकते और न ही उनके हावभावों, उनके स्वर की गूंज और उनके मौन को भूल सकते हैं।

इन नाटकों की प्रस्तुति स्मरणीय तो थी ही, तथापि नाटकों के उनके चयन पर भी आश्चर्य होता है। अपने अभिनय-काल के आरंभिक भाग में उन्होंने पौराणिक तथा अर्द्ध-ऐतिहासिक कथा-वस्तुओं वाले नाटकों को चुना। यह सत्य है कि अपने निर्वाचन में उन्होंने अपने पात्रों का मानवीकरण किया और दर्शकों को इच्छानुसार अन्तर्भौम संबंध बनाने के लिए छोड़ दिया। किन्तु उनमें समकालीन सामाजिक वास्तविकताओं पर कोई भी भाष्य नहीं है। आगे चलकर ही उन्होंने 'सामाजिक' नाटकों की आवश्यकता का अनुभव किया, जिसके लिए वे गिरीश घोष को आजमाने के बाद उपन्यासकार शरतचन्द्र चटर्जी की ओर मुड़े। उन्होंने उनके उपन्यासों के अनेक नाट्यरूपांतरणों का मंचन किया और अच्छे परिणाम प्राप्त हुए। वे अत्यंत सफल रहे और उन्होंने बंगला रंगमंच का उतना ही अभिवर्धन किया जितना कि बंकिम चन्द्र चटर्जी के उपन्यासों ने आरंभिक अवस्था में किया था। तब तक सामाजिक कथा-वस्तुओं से संबंधित अधिकांश नाटक नगरीय मध्यम-वर्ग की परिस्थिति और समस्याओं से संबद्ध थे। यह ऐसा था मानो कि बंगाल का ग्रामीण समाज अस्तित्व में ही नहीं था। कलकत्ता में नाटक देखने वालों की तीन पीढ़ियों के लोग महाकाव्यों के देवताओं और देवियों, धार्मिक नेताओं, मुगल बादशाहों और राजपूत योद्धाओं को अपने आसपास के समकालीन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक जानते थे। शरतचन्द्र चटर्जी के उपन्यासों को लेकर, जिनमें उच्चतर तथा मध्यम-वर्गीय बंगाली ग्रामीण समाज की गहरी समझ थी, शिशिर भादुड़ी ने बंगला रंगमंच के दृष्टिकोण को व्यापक किया। किंतु फिर भी उनकी प्रस्तुतियों में समकालीन सामाजिक तथा राजनैतिक विषयों के प्रति अनुक्रिया-हीनता को देखना कठिन नहीं है। उन्होंने जब रंगमंच में अपना व्यावसायिक जीवन आरंभ किया तब महात्मा गांधी का असहयोग आंदोलन पूरे संवेग में था। पुनश्च सन् 1929 में सत्याग्रह आंदोलन आरंभ हुआ और सन् 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन आया। अगले वर्ष बंगाल में एक भीषण अकाल पड़ा। चार वर्ष बाद

स्वतंत्रता आई और देश का विभाजन हुआ । इन सभी बातों ने लोगों को बहुत प्रभावित और उत्तेजित किया । किंतु उनके नाटकों में इन घटनाओं की थोड़ी भी प्रक्रिया नहीं दिखाई देती । तथापि, सामाजिक विषयों में उनकी बौद्धिक लिप्ति गंभीर और गहरी थी । वे बंगाल में उन आरंभिकतम व्यक्तियों में से थे जिन्होंने ब्रेख्त को परखा और उनके नाटकों का अनुवाद कराया । नया क्षेत्र खोजने और रंगमंचीय अनुभव के क्षेत्र को बढ़ाने की आवश्यकता के प्रति उनकी जागरूकता कभी भी मद्धिम नहीं हुई । किंतु वे अपनी स्वयं की प्रस्तुतियों में अपने व्यापक विचारों को आकार न दे सके ।

संभवत: यह लाक्षणिक था, क्योंकि जुलाई, 1927 में शिशिर भादुड़ी द्वारा पहली बार 'षोड्शी' के मंचित किए जाने के बाद एक दशक से भी कम समय के भीतर बंगला रंगमंच ने पुन: एक बार ह्रास की प्रावस्था में प्रवेश किया था। शिशिर भादुड़ी ने अपनी नाट्यकलात्मक शक्तियों और ओज को कायम रखा किंतु उनकी प्रस्तुतियों में उपेक्षा तथा बदतरी के लक्षण थे। चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में लोग शिशिर भादुड़ी को देखने उसी प्रकार जाने लगे जिस प्रकार एक पूर्वतर पीढ़ी के लोग गिरीश घोष, अर्धेन्दु मुस्तफी, तारा सुन्दरी तथा विनोदिनी को देखने जाते थे । तीसरे दशक में उन्होंने बंगला रंगमंच का पुनरुद्धार किया था किंतु चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में वे उसके ह्रास के असहाय साक्षी बने रहे । अपने अभिनय-काल के अंत तक वे अपने व्यावसायिक कौशलों पर पूर्ण नियंत्रण किए रहे, किंतु उनके द्वारा रंगमंच का दूसरी बार पुनरुद्धार नहीं होना था ।

अनेक दृष्टियों से शिशिर भादुड़ी अपने समय से आगे थे किंतु अन्य व्यक्तियों की भांति रंगमंच में और रंगमंच के माध्यम से कार्य करते हुए वे वर्तमान से आबद्ध थे । जनता का वह वर्ग, जिसके प्रश्रय पर रंगमंच निर्भर था, उन मानवों तथा संकल्पना से विचलनों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था, जिन्हें स्वयं उन्होंने सुदृढ़ तथा सुपरिचित किया था । यह बात नहीं है कि उन्होंने प्रत्याशित नवाचारों को आजमाया नहीं था । उन्होंने ऐसा किया था । सन् 1927 में ही टैगोर द्वारा लिखित एक हलके सुखांत नाटक की प्रस्तुति में वे अभिनेताओं तथा गायकों को पार्श्व-वीथी से नीचे लाए तथा उनसे उस चीज का प्रयोग कराया, जिसे अब दर्शक-सहभागिता कहा जाएगा । आगे चलकर, सन् 1935 में, अपनी एक लोकप्रिय प्रस्तुति 'रीतिमतो नाटक' में उन्होंने अपने कुछ अभिनेताओं को दर्शकों में रखकर रंगमंच की परिसीमाओं को तोड़ने का सफल प्रयास किया । किंतु अन्य समयों पर उनके प्रयोगों को जनता ने अस्वीकार कर दिया जैसा कि 'तपती' तथा 'जीवनरंग' के मामले में हुआ था । किंतु जिन बाध्यताओं और बंदिशों के अंतर्गत उन्होंने कार्य किया वे अनेक थीं । उदाहरणार्थ, समय की बाध्यता थी । वे नाटक के समय को उग्रता से काटने की जोखिम नहीं उठा सकते थे और न ही वे

गानों तथा नृत्यों को, तब भी जब वे अनाहूत होते थे, अलग कर सकते थे। यह सत्य है कि अपनी प्रभुताशाली स्थिति प्राप्त करने और उसे सुदृढ़ करने के पूर्व वे उस उद्देश्य को क्षतिग्रस्त किए बिना, जिसे उन्होंने भलीभांति उठाया था, विगत प्रेरणाओं की बिलकुल उपेक्षा नहीं कर सकते थे। किंतु उसे प्राप्त कर लेने पर वे उन्हें त्याग देने की स्थिति में थे। उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने बंगला रंगमंच को नया संवेग दिया। किंतु जब उससे बिलकुल दूर के नए पंथों का समन्वेषण करने का समय था तब उन्होंने स्वयं को भूतकाल का बंदी पाया। उपसंहार तब हुआ जब अपने जीवन के उत्तरवर्ती वर्षों में उनके पास न तो चित्ताकर्षक प्रस्तुतियों के लिए वित्तीय संसाधन थे और न जोखिम उठाने तथा नई ज्वालाएं उद्दीप्त करने की कलात्मक पूंजी थी; उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए नाटकों में, उनकी व्यक्तिगत उपस्थिति की भव्यता को छोड़, प्रतिदान के रूप में अधिक कुछ नहीं था। दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य यह है कि उस उपस्थिति की दीप्ति ही उनकी प्रस्तुतियों की असारता को प्रकट करती थी।

यह बात नहीं है कि शिशिर भादुड़ी उन अंतिम सिरों को नहीं देख पा रहे थे जिनकी ओर बंगला रंगमंच बढ़ रहा था। सन् 1927 में हां उन्होंने चित्र के चौखटे जैसे रंगमंच और अंग्रेजी साहित्य के उदाहरण को त्याग देने की आवश्यकता के बारे में लिखा था। उन्होंने लिखा था : "हमने अंग्रेजी प्रादर्श का अनुकरण करने, एक परकीय आयात की असत्यता के लिए अपने स्वयं के सत्य को छोड़ देने की गलती की थी। हमें उस गलती को सुधारना है और अपने स्वयं के जात्रा नाटक के तौर-तरीकों की ओर लौटना है।" सन् 1941 में अर्थात् उस वर्ष में जिसमें उन्होंने 'श्रीरंगम' को किराए पर लिया था, और इस प्रकार उनकी अपनी स्वयं की एक रंगशाला हो गई थी, उन्होंने बंगला रंगमंच संबंधी अपने संदेहों को दोहराया। रंगमंच में तीस वर्ष पूर्ण कर लेने के अवसर पर 10 दिसंबर, 1951 को एक आमंत्रित दर्शक-वर्ग के सम्मुख दिए गए अभिभाषण में उन्होंने अपने विचारों को अधिक स्पष्टता से प्रकट किया। उन्होंने कहा : "यदि हमारा रंगमंच जात्रा से विकसित हुआ होता तो वह एक भिन्न प्रकार का रंगमंच, एक वास्तविक राष्ट्रीय रंगमंच होता। किंतु हमारा रंगमंच विदेशी प्रभावों के अंतर्गत बढ़ा है। तथापि, हम उसे त्याग नहीं सकते। वह अपनी जगह पर है। मैं जो चाहता था वह था एक राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण। मैं असफल रहा हूं।"[1] संभवतः यह कथन भावुकतापूर्ण था—वे चाहे जो भी रहे हों, असफल नहीं थे—और उनका आशय यह था और उन्हें जिस बात का दुःख था वह यह थी कि उनके पास ऐसी नाट्यशाला नहीं थी जो कि साहूकारों के ऋण से मुक्त हो। शासन को 2 फरवरी,

1. डी० बंद्योपाध्याय द्वारा संपादित 'नाट्यलोक' का 10 दिसंबर, 1951 का अंक।

1959 को लिखे गए अपने पत्र में, जिसमें उन्होंने उन्हें प्रदत्त किए जाने के लिए प्रस्तावित सम्मान को अस्वीकार किया था, लिखा था : "यदि शासन वस्तुत: मेरा और मेरे माध्यम से उस कार्य का, जो मैं लगभग चालीस वर्षों से कर रहा हूं, सम्मान करना चाहता है तो अधिक उपयुक्त सम्मान यह होगा कि कलकत्ता शहर को एक सार्वजनिक रंगमंच का उपहार दिया जाए, क्योंकि मैं जिस रंगमंच को डुबो चुका हूं उसका पुनरुद्धार करने में बहुत विलंब हो गया है।"[1] कम-से-कम उन्हें अपने देशवासियों से यह अपेक्षा तो थी ही नहीं। यह एक शर्मनाक बात है कि अपने इस प्रिय और महान अभिनेता को कोई रंगशाला नहीं दी। यदि उनके पास कोई ऐसी राष्ट्रीय रंगशाला होती जिसे, जैसा कि उन्होंने एक बार लिखा था, "अपने अस्तित्व के लिए टिकट बिक्रीघर पर निर्भर न रहना पड़े" और "जहां मुक्त रूप से प्रयोग किया जा सके और जहां लोगों को वर्तमानकाल के और भूत-काल के, स्वदेशी या हमारे स्वयं के या विदेशी क्लासिकों से रूपांतरित या अनूदित उत्तम नाटकों को देखने का अवसर मिले"[2], तो क्या वे भूतकाल से अपना संबंध तोड़ सकते और एक ऐसे प्रकार की रंगशाला का सूत्रपात कर सकते जो उन अधिकांश बातों को अस्वीकार करती थी जिसके वे आग्रही थे, एक व्यर्थ का अनु-मान है और इस चूक के लिए अपर्याप्त बहाना है।

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में शिशिर भादुड़ी कुंठा की भावना के कारण दुखी थे। 'श्रीरंगम' में अंतिम कुछ वर्षों के दौरान उनकी प्रस्तुतियां एक के बाद एक बाक्स आफिस पर असफल रहीं। उन्हें बहुधा आधी से अधिक खाली नाट्य-शालाओं में नाटक प्रदर्शित करने पड़ते थे। हम कल्पना कर सकते हैं कि वह अनुभव कितना दारुण रहा होगा। स्थितियां उनके बहुत प्रतिकूल थीं। कलकत्ता अकाल, सांप्रदायिक दंगों और उन्मूलित मानव समुदाय की विशाल संकुलता के मर्मभेदी अनुभव के दौर से गुजरा था। सामान्य लोगों की दारुण पीड़ा एक ऐसी वास्तविकता थी जैसी उन्होंने इतने निकट से पहले कभी नहीं देखी और जानी थी। संभवत: उन्होंने यह समझ लिया था कि जिस रंगमंच को उन्होंने समृद्ध किया था और जिस पर उन्हें विश्वास था वह सामाजिक, आर्थिक परिवर्तनों के महान संक्षोभ को निबाहने के लिए अपर्याप्त था। वह न तो सामान्य लोगों के जीवन की कठोर वास्तविकता के सत्य को चित्रित कर सकता था और न पूर्णत: पलायनवादी पाथेय प्रदान कर सकता था। हो सकता है कि उनमें असफलता तथा कुंठा का यह बोध उनकी इस अनुभूति से उत्पन्न हुआ हो।

शिशिर भादुड़ी ने अत्यधिक क्षमता-संपन्न अनेक अभिनेताओं तथा अभि-

1. शंकर भट्टाचार्य द्वारा लिखित 'नाट्याचार्य शिशिर कुमार', पृ० 297.
2. पत्रिका 'अन्य मने', तृतीय वर्ष, द्वितीय अंक, पृ० 91.

नेत्रियों को प्रशिक्षित तथा प्रभावित किया था। उनमें नरेश मित्र, जोगेश चौधरी, मनोरंजन भट्टाचार्य, श्रीमती कनकावती और श्रीमती प्रभावती सम्मलित थे। उन्होंने उनपर अपनी स्वयं की इच्छा और अपनी स्वयं की शैली थोपे बिना उनकी प्रतिभा को बढ़ाया। जोगेश चौधरी तथा मनोरंजन भट्टाचार्य की स्वयं की अभिनय-शैलियों को देखकर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता था कि वे उनके आरंभिकतम सहकर्मी थे और यह कि उन्होंने अभिनय के प्रथम वास्तविक पाठ शिशिर भादुड़ी से सीखे थे। शिशिर भादुड़ी के प्रबोधक प्रभाव के परिणामस्वरूप ही उनमें से एक मनोरंजन भट्टाचार्य ने 'नव नाट्य आंदोलन' के मित्र, दार्शनिक और मार्ग-दर्शक की भूमिका का निर्वाह किया, जिसने कि पांचवें दशक के अंतिम वर्षों में बंगला रंगमंच के इतिहास में एक नए अध्याय का आरंभ किया।

12

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगला रंगमंच और बंगला नाट्य साहित्य की स्वयंभू विभूति हैं। उन्हें तैथिक क्रम से किसी विशेष स्थान पर रखना संभव नहीं है। न ही उनके नाटकों को विविध प्रकारों में विभक्त करना आसान है और न रंगमंच के साथ उनके संबंध को परिभाषित करना संभव है। उन्होंने एक सुदीर्घ कालावधि से संबद्ध अनेक नाटक लिखे। प्रयोजन, कथा-वस्तु, संरचना, भाषा तथा निरूपण की विविधता की दृष्टि से वे विस्मयकर हैं। उनके नाटकों—और रंगमंच विषयक उनके विचारों—का विकास बंगला नाटक तथा रंगमंच के विकास की परिपाटी से भिन्न परिपाटी पर हुआ। अन्य नाटककारों पर उनका बहुत कम प्रभाव पड़ा और कलकत्ता के रंगमंच के प्रति उनकी अभिवृत्ति उदासीन, परांगमुख, या द्वैधवृत्तिक थी। उन्होंने व्यावसायिक रंगशालाओं को अपने अनेक नाटकों का प्रदर्शन करने की अनुमति दी, किंतु सामान्यतः उनकी कार्यप्रणाली का तिरस्कार किया। अंततः, कुछ वर्षों में उनके स्वयं के विचार बदल गए।

अन्य अनेक नाटककारों की भांति उन्हें रंगमंच के प्रति बहुत पहले से ही लगाव था और बीस वर्ष की आयु में अपना प्रथम नाटक लिखने के पूर्व उन्होंने अभिनय किया था। उत्तर कलकत्ता में जोड़ासांकों में टैगोर वंश का पैतृक घर, जब सन् 1861 में रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ था, कलात्मक तथा साहित्यिक गतिविधियों से गुंजायमान हो रहा था। नाटक और रंगमंच इस घर के लोगों के प्रिय विषयों में थे। रवीन्द्रनाथ पारिवारिक नाटक-मंडली, जोड़ासांकों थिएटर, के प्रदर्शनों को उत्सुकतापूर्वक देखा करते थे। अपने आत्मकथात्मक संस्मरणों में टैगोर कहते हैं कि अपने बाल्यकाल में वे अभिनय के प्रति आकृष्ट थे और उन्हें विश्वास हो गया था कि उनमें अभिनय करने की नैसर्गिक क्षमता थी।

रवीन्द्रनाथ सर्वप्रथम सन् 1877 में अपने अग्रज ज्योतीन्द्रनाथ टैगोर के एक नाटक में रंगमंच पर आए। अभिनेता के रूप में सर्वप्रथम वे अपने स्वयं के नाटक 'वाल्मीकि प्रतिभा' में सार्वजनिक रूप से रंगमंच पर आए। यह नाटक रामायण के सुप्रसिद्ध रचयिता के जीवन पर लिखा गया एक उपाख्यानात्मक संगीत-नाटक था। यह नाटक आमंत्रित दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया था जिनमें बंकिम

चंद्र चटर्जी, हरप्रसाद शास्त्री तथा सर गुरुदास बैनर्जी जैसे सुविख्यात व्यक्ति सम्मिलित थे। उसके बाद से, जब वे इक्कीस वर्ष के थे, उन्होंने अपने लिखे बड़े और छोटे लगभग चालीस नाटकों में से अनेक का निर्देशन तथा प्रस्तुतीकरण किया। जब वे शांतिनिकेतन में, जहां वे अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अधिकांश समय तक रहे और जहां उन्होंने अपने अनेक नाटकों का मंचन किया, सन् 1935 में मंचित नाटक 'शारदोत्सव' में-अंतिम बार आए तो वे पचहत्तर वर्ष के थे। लगभग पांच दशकों तक वे एक नाटककार, अभिनेता, संगीतकार तथा निर्देशक के रूप में रंगमंच में रुचि लेते रहे। किंतु इस सुदीर्घ तथा आंतरायिक संबद्धता के बावजूद, उनके नाटक तथा रंगमंच के प्रति उनकी रुचि उनके भव्य मानस और व्यक्तित्व तथा उनके विकास के कुछ पहलू मात्र थे।

साहित्य के इतिहासकार टैगोर की नाट्य रचनाओं को संगीत-नाटकों, काव्य नाटकों, सुखांत नाटकों, सामाजिक नाटकों, प्रतीक नाटकों, नृत्य नाटकों आदि जैसी विभिन्न श्रेणियों के अंतर्गत वर्गीकृत करते हैं। इसके अन्य उपयोग जो भी हों, तथापि ऐसा वर्गीकरण इस बात का स्पष्टीकरण करने में अधिक उपयोगी नहीं है कि बंगला नाट्य साहित्य तथा बंगला रंगमंच पर उनका प्रभाव न्यूनतम क्यों था। यह बात नहीं है कि उनके जीवन-काल में कलकत्ता के रंगमंच पर उनके कुछ नाटक लोकप्रिय नहीं हुए थे। न ही यह बात थी कि उनके सामान्य विरोध-भाव के बावजूद, वे विशेषत: असहयोगी थे। जब कभी उनसे अनुरोध किया जाता, वे कलकत्ता की नाट्यशालाओं में अपने नाटकों के प्रदर्शन की अनुमति तत्परता-पूर्वक दिया करते थे। उन्होंने प्रस्तुतकर्त्ता-निर्देशकों के अनुरोध पर अपने दो नाटकों को दोबारा लिखा। जब उनकी मृत्यु हो जाने के अनेक वर्षों बाद नाट्य-समूह 'बहुरूपी' ने शंभु मित्र के निर्देशन में उनके अनेक प्रधान नाटकों का प्रदर्शन किया तो समीक्षकों ने और साधारण लोगों ने भी उनकी सोत्साह प्रशंसा की। तथापि, टैगोर एक एकाकी विभूति बने रहे और बंगला रंगमंच उनसे एक आदर-युक्त दूरी बनाए हुए है।

टैगोर ने लगभग तीन हजार गीत लिखे और उन्हें संगीतबद्ध किया और यह स्वाभाविक ही था कि वे संगीत-नाटक लिखते। सन् 1881 में लिखित उनका पहला नाटक 'वाल्मीकि प्रतिभा' इस विधा का नाटक था। कथा, गीतों की एक शृंखला द्वारा अभिव्यक्त हुई है। उसमें कतिपय नाटकीय द्वंद्व हैं, किंतु वह संगीत और गीतों में निमज्जित हो जाता है। 'वाल्मीकि प्रतिभा' के बाद उन्होंने एक के बाद एक जो कुछ नाटक लिखे उनके बारे में भी यही सत्य है। बहुत समय बाद, जब वे शांतिनिकेतन में रहने लगे, उन्होंने 'ऋतुरंग', 'वसंत', 'फाल्गुनी' तथा 'शेष वर्षण' जैसे नाटक लिखे, जिनमें सूक्ष्मतम नाटकीय धागों द्वारा शिथिलता से निबद्ध गीतों के संयोजन से ऋतुओं का समारोह किया गया था। ये नाटक, यदि

उन्हें नाटक कहा जा सकता है, आज भी मंचित किए जाते हैं और लोकप्रिय हैं, किंतु उनमें रंगमंच का आकर्षण बहुत कम है।

नृत्य नाटकों के बारे में भी यही कहा जा सकता है। इस विधा में प्रधान नाटक—'चांडालिका', 'ताशेर देश', 'चित्रांगदा' तथा 'श्यामा'—चौथे दशक में लिखे गए थे, जब टैगोर सत्तर वर्ष की आयु पार कर चुके थे। उनमें नाटकीय तत्त्व पर्याप्त हैं, किंतु नाटकीय कथावस्तुओं के प्रतिपादन के लिए उन्होंने जिस रूप का विकास किया वह नृत्यों, प्रहसन, संगीत तथा नृत्यलेखन का एक मिश्रित रूप है। उनमें अद्वितीय आकर्षण है, किंतु वे संगीत-नाटकों तथा आपेरा नाटकों की भांति, गायन तथा नृत्य-मंडलियों के प्रिय रहे हैं और बंगला रंगमंच पर उनका बहुत कम प्रभाव पड़ा था।

जिन नाटकों पर एक नाटककार के रूप में टैगोर की लोकप्रियता निर्भर थी वे विविध प्रकार के थे। कुछ नाटक उन्हें व्यावसायिक रंगमंच के निकट लाए। उनके द्वारा लिखित सर्वांगीण नाटक 'राजा ओ रानी' था (सन् 1889)। वह एक पांच अंकों वाला पद्य-नाटक है। वह मेलोड्रामा जैसी घटनाओं, बाह्य द्वंद्वों तथा रोमानी आवेग से पूर्ण है। वह उनके उन कुछ नाटकों में से एक है, जो कि कलकत्ता के वाणिज्यिक रंगमंच पर साधारण रूप से लोकप्रिय सिद्ध हुए। उसके प्रकाशित होने के लगभग एक वर्ष के भीतर इमेराल्ड थिएटर ने उसका मंचन किया, जिसमें महेन्द्रनाथ बसु—जिन्हें बंगाल का दु:खांत नाटक का अभिनेता कहा जाता था—तथा मोतीलाल सूर कुमार सेन तथा विक्रम देव की दो प्रधान भूमिकाएं अभिनीत कर रहे थे। यह नाटक आगे चलकर अन्य रंगशालाओं में भी प्रदर्शित हुआ। वर्षों बाद उन्होंने शिशिर भादुड़ी के अनुरोध पर जिन्होंने सन् 1929 में उसका मंचन किया, उसे बहुत पुनरीक्षित किया। यह एक परिमार्जक तथ्य है कि एक ऐसा नाटक, जिसे टैगोर ने पर्याप्त दोषपूर्ण मानकर उसमें बहुत परिवर्तन किया था, लोकप्रिय हुआ था, जबकि नया और बेहतर संस्करण जिसके प्रस्तुतिकार शिशिर भादुड़ी थे, असफल हुआ। 'राजा ओ रानी' के बाद एक पूर्णांग पद्य-नाटक 'विसर्जन' आया। उनके एक आरंभिक उपन्यास पर आधारित यह नाटक धार्मिक बलिदान का एक अभियोग-पत्र है। नाटकीय मुकाबलों तथा दु:खपूर्ण आवेग से पूर्ण 'विसर्जन' में पुजारी रघुपति, उसके द्वारा पाले-पोसे गए जयसिंह और राजा गोविंदमाणिक्य की भूमिकाओं में अनुपम प्रदर्शन की अच्छी गुंजाइश थी। किंतु 'नाट्य मंदिर' में हुए कुछ प्रदर्शनों को छोड़, उसे संभवत: इस भय से कि उससे हिन्दुओं की भावनाओं पर आघात लगेगा, वाणिज्यिक रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किया गया। लोगों को 'बहुरूपी' की प्रस्तुति में इस नाटक की नाटकीय संभावनाओं को देखने के लिए और उसकी भाषा की काव्यात्मकता के रसास्वादन के लिए वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ी।

'विसर्जन' के बाद टैगोर ने दो दशक तक कोई भी प्रधान नाटक नहीं लिखा। यह वह कालावधि भी थी जब विषय-वस्तु और रूप की दृष्टि से उनकी कविता में रूपांतरण हो रहा था। तथापि, इस कालावधि में उन्होंने कुछ नाटकों, अनेक सुखांत नाटकों, नाटिकाओं, कथोपकथन के रूप में इतिवृत्तात्मक कविताओं की रचना की और अपने एक आरंभिक उपन्यास का नाट्य रूपांतरण भी किया। किंतु रंगमंच से उनका बहुत कम संबंध था। यह संभव है कि नाट्य लेखन से उनका आभासी रूप से अलग हो जाना नाटक तथा रंगमंच पर पुनर्चिंतन की एक प्रक्रिया थी। क्योंकि जब सन् 1910 में उनका प्रधान नाटक 'राजा' प्रस्तुत किया गया तो वह उनके द्वारा पूर्वतर लिखे गए नाटकों से भिन्न प्रकार का नाटक था। 'राजा' के पूर्व उनके द्वारा लिखित दो नाटकों 'शारदोत्सव' तथा 'प्रायश्चित' में इसका कुछ संकेत मिलता है। दोनों ही नाटकों में 'वाह्यता' तथा 'क्रियाशीलता' का स्थान दार्शनिक 'आंतरिकता' तथा 'निष्क्रियता' ने ले लिया है। दोनों नाटकों में बुद्धिमान, सदाबहार बूढ़े व्यक्ति—पहले नाटक में ठाकुरदादा के रूप में और दूसरे नाटक में धनंजय वैरागी के रूप में—की आदिरूप आकृति आती है। यह एक ऐसा पात्र है जिसे टैगोर ने अपने परवर्ती नाटकों में विभिन्न वेशों और संदर्भों में प्रस्तुत किया।

तथापि, 'राजा' के साथ नाटकों के एक चक्र का स्वर्ण युग आरंभ हुआ। 'राजा' ने नाट्य लेखन की अनेक परिपाटियों, जैसे सुगठित कथावस्तु, वर्णनात्मक विषय-वस्तु, प्रारूपिक पात्रों आदि को त्याग दिया। यह बात नहीं है कि एक जातक उपाख्यान पर आधारित 'राजा' में कोई कथा-शृंखला या घटनाएं नहीं हैं। उसमें हथियारों की भिड़न्त, आगजनी, भाग-दौड़ आदि जैसी अनेक नाटकीय घटनाएं हैं। किंतु वे नाटक की मुख्य विषय-वस्तु को, जो कि एक रानी की सौंदर्य की तलाश और प्रेम तथा पीड़ा के माध्यम से उसकी मुक्ति के बारे में है, बाधित नहीं करतीं। यह नाटक एक रहस्यमय सौंदर्य तथा प्रयास, संताप तथा हर्ष के मनोभावों से परिपूर्ण है। रानी सुदर्शना राजा को देखने और उसका हृदय जीतने के लिए बावली है। किंतु राजा उसके सम्मुख नहीं आता।

सुदर्शना : हर कोई आपको देख सकता है। मैं, रानी, इससे वंचित क्यों हूं ?

राजा : तुम यह कल्पना क्यों कर लेती हो कि वे मुझे देख सकते हैं ? भ्रमित लोग ही यह समझते हैं कि वे मुझे देख सकते हैं।

सुदर्शना : चाहे जो भी हो। आपको मेरे सम्मुख आना होगा।

राजा : तुम उसे सह नहीं सकोगी। तुम्हें पीड़ा होगी।

सुदर्शना : सह नहीं सकूंगी ? कैसी विचित्र बात आप कह रहे हैं ! इस अंधेरे में भी मैं यह महसूस कर रही हूं कि आप कितने सुंदर हैं, कितने

अद्‌भुत हैं और प्रकाश में मैं आपको नहीं पाऊंगी ? ···
किंतु मुझे बताइए, क्या आप इस अंधेरे में मुझे देख रहे हैं ?

राजा : हां, मैं देख रहा हूं।

सुदर्शना : आप कैसे देख लेते हैं ? आप क्या देखते हैं ?

राजा : मैं तुम्हें अपने आनंद के असीम आकाश के अंधकार में असंख्य सितारों के जगमगाते प्रकाश से जन्मी सुंदरी के रूप में देखता हूं। तुम में युगों का चिंतन, आकाशों का राग, ऋतुओं का उपहार संचित है।

सुदर्शना : क्या मुझमें इतना सौंदर्य है ? जब मैं यह बात आपसे सुनती हूं तो मेरा हृदय आप्लावित हो उठता है। किंतु मैं उस पर पूर्णतः विश्वास नहीं कर सकती। मैं स्वयं को वैसा क्यों नहीं देखती जैसा कि आप कहते हैं ?

राजा : कोई भी व्यक्ति स्वयं को किसी दर्पण में नहीं देख सकता। छवि छोटी हो जाती है। यदि तुम मेरे माध्यम से स्वयं को देखो तो तुम देखोगी कि तुम कितनी भव्य हो।[1]

अदृश्य नायक-राजा, दार्शनिक अधिस्वर, अपरिचित भाषा और नाटकीय रचना के प्रचलित सिद्धांतों की अस्वीकृति आदि बातें 'राजा' को एक ऐसा नाटक बना देते हैं जैसा बंगला नाट्य लेखन में पहले नहीं लिखा गया था। वह इतना रहस्यजनक तथा संभ्रमजनक था कि रंगशाला के प्रबंधक उसे वैसा ही रहने नहीं दे सकते थे। टैगोर को भी उसकी मंचनीयता के बारे में संदेह था और, जैसा कि उनका स्वभाव था, बाद में उन्होंने उसका पुनरीक्षण किया और उसे दूसरा 'नाम 'अरूप रतन' दिया।

'राजा' के बाद टैगोर ने 'अचलायतन' तथा 'डाकघर' नाटक लिखे। ये दोनों नाटक सन् 1912 में लिखे गए थे। पहले नाटक में 'राजा' की अपेक्षा कम हल्की दार्शनिकता है और द्वंद्व के चित्रण में वह अधिक नाटकीय है। आत्महीन अनुष्ठान और संस्थाकृत धार्मिक सत्ता पर प्रहार करने वाला नाटक 'अचलायतन' बंदिशों की दीवारों को तोड़ने का आह्वान करता है। जनता का एक वर्ग इस नाटक से क्रुद्ध हो उठा क्योंकि वह धार्मिक परिपाटियों पर प्रहार करता था और उसे कलकत्ता के किसी भी रंगमंच में कभी भी मंचित नहीं किया गया। दूसरा नाटक 'डाकघर', कम-से-कम बंगाल के बाहर टैगोर के नाटकों में सर्वाधिक ख्यात है। वह उस समय लिखा गया था जब टैगोर 'गीतांजलि' तथा 'गीताली' लिख रहे थे, जिसने उन्हें सन् 1913 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार दिलाया। अपनी संरचना और भाषा में आग्रहिता की हद तक साधारण नाटक 'डाकघर' में

1. अनुवाद।

प्रतीकात्मक नाटक की शक्ति और प्रगल्भता भरपूर है। जैसा कि एडवर्ड थाम्पसन टैगोर पर लिखे गए अपने ग्रंथ[1] में लिखते हैं, वह "संपूर्णतः साधारणता की एक रचना वाला नाटक है और अपनी सीमाओं के भीतर लगभग परिपूर्ण कलाकृति है।"

प्रतीकात्मक नाटकों का चक्र सन 1924 में 'रक्तकरवी' में पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ। अभिकल्प में अन्य नाटकों से अधिक जटिल इस नाटक में कल्पनाशीलता और रचना की वह समृद्धि है जो कि पूर्वतर नहीं देखी गई थी। कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने 'मुक्तधारा' नामक एक अन्य नाटक इसी मनःस्थिति में लिखा जिसे संयोगवश, एडवर्ड थाम्पसन उनके प्रतीकात्मक नाटकों में महानतम मानते हैं। उन्होंने ये दोनों नाटक यूरोप और अमेरिका के व्यापक दौरे से लौटने के वाद लिखे थे। स्पष्टतः, अर्जनशील समाज की निर्नैतिकता और मशीनों द्वारा अभिभूत सामाजिक व्यवस्था के मनुष्यत्व-विहीन कारक प्रभाव ने उन्हें उदास और क्रुद्ध कर दिया था। 'मुक्तधारा' तथा 'रक्तकरवी' दोनों ही इन बुराइयों से अभिभूत सभ्यता की निंदा करते हैं। 'विश्वभारती क्वार्टरली' के अक्तूबर, 1925 के अंक में टैगोर ने 'रक्तकरबी' के बारे में लिखा था कि यह नाटक पश्चिमी समाजों की लोलुपता का प्रदर्शन करने के लिए था। उन्होंने यह भी लिखा कि "अप्रतिकर अभिपुष्टि (अर्जनशीलता की) अत्यधिक वास्तविक है। उसकी गर्म सांस हमारी सिकुड़ती हुई आत्माओं को संपूर्णतः छूती है।" दोनों नाटक स्वातंत्र्य, सौंदर्य और मानवीय प्रतिष्ठा में उनके विश्वास की परिपुष्टि करते हैं। 'रक्तकरबी' के नाटकीय दृश्य में राजा अनुभव करता है कि कैसे वह अपनी स्वयं की सत्ता का बंदी हो गया था। वह अदृश्य प्रतिद्वंद्वी राजन की हत्या कर देता है और राजन की साथी नंदिनी, जो कि यौवन, सौंदर्य और स्वातंत्र्य का प्रतीक है, अंततः उसे उसके कक्ष से वाहर आने के लिए बाध्य कर देती है।

नंदिनी : महाराज, अब समय आ गया है।
राजा : किस बात का समय ?
नंदिनी : अपनी संपूर्ण शक्ति से आपसे युद्ध करने का समय।
राजा : तुम मुझसे युद्ध करोगी ! किन्तु मैं तुम्हें किसी भी क्षण आसानी से मार सकता हूं।
नंदिनी : उसके वाद मृत्यु आपको हर क्षण बारंबार मारेगी। मेरे पास हथियार नहीं है। मृत्यु मेरा हथियार है।
राजा : तब मेरे पास आओ। क्या तुममें मुझ पर विश्वास करने का वल है ? चलो चलें। मुझे अपना मित्र बना लो, नंदिनी !

1. रवीन्द्रनाथ, हिज लाइफ एंड वर्क्स'।

नंदिनी : हम कहां जाएंगे ?

राजा : मुझसे युद्ध करने के लिए, किंतु तुम्हारे हाथ मेरे हाथ में होंगे। क्या तुम अनुभव नहीं करतीं ? युद्ध आरंभ हो गया है। यह मेरा ध्वज-दंड है। मैं दंड को तोड़ देता हूं, तुम ध्वज को फाड़ दो। मेरे हाथों में गुंथे हुए तुम्हारे हाथ मुझे मारें। मुझे पूर्णतः नष्ट कर दो। तभी मैं मुक्त होऊंगा।

राजा के दल के लोग : महामहिम, यह क्या पागलपन है ! आपने ध्वजदंड को तोड़ दिया है और हमारे देवता के ध्वज को नष्ट कर दिया है। कितना गंभीर पाप…!

राजा : बहुत कुछ तोड़ना शेष है। तुम मेरे साथ आओगी, नंदिनी ! नहीं आओगी ?

नंदिनी : मैं आऊंगी।[1]

कलकत्ता की रंगशालाओं द्वारा न तो 'रक्तकरबी' और न ही 'मुक्तधारा' का प्रदर्शन किया गया। स्टार में सन् 1925 में हुए 'गृह प्रवेश' के एक प्रदर्शन को छोड़ जो कि असफल रहा, उनके किसी भी प्रतीकात्मक नाटक का प्रदर्शन नहीं हुआ। तथापि इन नाटकों के प्रदर्शन का प्रयास न किए जाने के लिए प्रदर्शकों या प्रबंधकों को दोष देना अनुचित होगा। वे बहुत अनऔपचारिक थे। स्वयं टैगोर, जिनमें एक अभिनेता के रूप में विपुल प्रतिभा थी और नाटकों के प्रस्तुतीकरण का सुदीर्घ अनुभव था, उन्हें मंचित करने के बारे में सतर्क थे। इसलिए टैगोर उन प्रधान नाटकों के जरिए एक नाटककार के रूप में नाटक-दर्शकों को ज्ञात नहीं हुए, जो कि उन्होंने लिखे, बल्कि अतिविकसित मेलोड्रामा 'राजा ओ रानी' तथा दो सुखांत नाटकों 'चिरकुमार सभा' तथा 'शेष रक्षा' के जरिए। अंतिम दो नाटक बहुत लोकप्रिय हुए और तीसरे दशक के अंतिम भाग में और चौथे दशक के आरंभिक भाग में विभिन्न रंगशालाओं में उनका मंचन हुआ। वे भ्रांतिजन्य घटनाओं से भरे सुखांत नाटक हैं और गलत पहचान की कमजोर नींव पर डगमगाते हुए खड़े हैं।

टैगोर ने सविराम पचास वर्ष तक नाटक लिखे। जैसाकि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, उन्हें बमुश्किल नाटक कहा जा सकता है। वे अपने नाटकों का संशोधन और पुनर्लेखन किया करते थे और अपने उपन्यासों तथा अपनी कथाओं को नाटकों में रूपांतरित किया करते थे। किंतु संगीत कोलाजों,

1 अनुवाद।

नृत्य-नाटकों, छोटे व्यंग्य-रूपकों तथा शब्दचित्रों को छोड़ भी दिया जाए तो भी उन्होंने सारभूत रचना की है। क्या एक नाटककार के रूप में वे महान थे? शंभु मित्र का जो कि अब तक टैगोर के अनेक प्रधान नाटकों को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करने वाले एकमात्र अभिनेता-निर्देशक हैं, दृढ़ मत है कि वे महान नाटककार थे। सन् 1961 में प्रकाशित एक लेख[1] में उन्होंने लिखा था, "व्यक्तिगत रूप से कहा जाए तो मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि टैगोर को महान नाटककारों में स्थान मिलना चाहिए। आखिरकार अच्छा नाटक क्या है? नाटक के मूलभूत तत्त्वों को देखने पर कोई नाटक उच्चतम कोटि का तब होता है जब उसमें उसके रूप के उपयुक्त उच्चतम उत्कृष्टता होने के अतिरिक्त वह लेखक की दृष्टि को भी अभिव्यक्त करता हो और उसे सफलतापूर्वक मंचित किया जा सकता हो। टैगोर के नाटकों में ये तीनों गुण हैं।" आगे उन्होंने लिखा कि टैगोर "उस समस्या को जो प्रत्येक नाटककार के समक्ष होती है और जिसे सभी प्रधान नाटककार अपने-अपने ढंग से हल करते हैं" कैसे हल किया करते थे। "समस्या एक नाटकीय समग्रता के भीतर उन सभी पात्रों को जो कि सार्वलौकिक और आद्यरूप हैं और उन पात्रों को भी, जो कि पार्थिव और सामान्य हैं, समाविष्ट करने की है...। उनके पात्र व्यक्तिगत अस्तित्व धारण करते हुए भी अपने सार्वलौकिक, आद्यरूप तथा प्रतीकात्मक गुण कायम रखते हैं।" हमारे समय के एक अन्य सुविख्यात रंगमंचकर्मी 'नाटककार' एवं अभिनेता उत्पल दत्त ने भी एक नाटककार के रूप में टैगोर की महानता पर लिखा है। किंतु यह तथ्य बना ही रहता है कि कलकत्ता में व्यावसायिक रंगमंच उनके नाटकों या रंगमंच संबंधी उनके विचारों से अप्रभावित रहा। वे न तो उनके लिए ही अधिक उपयोगी थे और न ही, 'बहुरूपी' के उल्लेखनीय अपवाद को छोड़, उन अनेक अग्ररक्षक समूहों के लिए उपयोगी थे, जिन्होंने पांचवें दशक के उत्तरार्द्ध में बंगला रंगमंच का नेतृत्व ग्रहण किया था। सन् 1961 में उनकी जन्म शताब्दी समारोह के दौरान इन्हीं समूहों ने अनेक नाटक प्रस्तुत किए। किंतु ये नाटक यन्त्रवत् आनुष्ठानिक श्रद्धांजलि से अधिक कुछ भी नहीं थे। कवि के प्रति अपने कर्त्तव्य को पूरा कर चुकने पर उन्होंने न्यूनाधिक रूप में उनकी अपेक्षा की। इन बातों से उन लोगों को बहस का एक मुद्दा मिल जाता है जो कि टैगोर के नाटकों को हतप्रभाव संक्षेप तथा घालमेल भरा पाते हैं। वे पूछते हैं कि यदि टैगोर इतने अच्छे नाटककार थे तो उन्होंने बंगला रंगमंचीय परंपराओं को ढालने में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह क्यों नहीं किया? फिर भी यदि हम उनके अच्छे नाटकों को पढ़ते हैं तो उनके नाटकीय गुणों से प्रभावित न होना या उनके शाब्दिक जादू की शक्ति

1. 'इलस्ट्रेटेड वीकली ग्राफ इंडिया', मई, 1961.

से प्रभावित न होना कठिन होता है।

रंगमंच के संबंध में टैगोर के विचार पुनर्चिन्तन की एक क्रमिक प्रक्रिया के पश्चात प्रस्फुटित हुए। यह तथ्य दुर्भाग्यपूर्ण है कि जब वे अधिक बंगाली हुए तो बंगला रंगमंच ने उन्हें अस्वीकार कर दिया। पश्चिमी आदर्शों पर नाटक लिखने के पश्चात टैगोर उन रूपों की ओर उन्मुख हुए जो कि बंगला लोक-रूपों के अधिक निकट थे। उनके नाटक, निःसंदेह, जात्रा नाटककारों की रचनाओं की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ थे। किंतु आकारिक कल्पना समोद्भव थी। अंग्रेजी रंगमंच का अनुकरण करने के सचेतन प्रयास में बंगला रंगमंच सचेतन रूप से या अन्यथा उसकी लघुकृत विशेषताओं को अंगीकार करते समय उस कल्पना से विहीन था। एक और दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि बंगला रंगमंच के दो प्रधान शिल्पियों गिरीश घोष तथा शिशिर भादुड़ी ने इस दुविधा को महसूस किया था तथा वे लोकरूपों के प्राणदायक रस को ग्रहण करने की आवश्यकता की बात किया करते थे। किंतु उनमें से किसी भी व्यक्ति ने उसके बारे में न तो कुछ किया और न कर सकता था। टैगोर के रंगमंच विषयक विचारों पर ध्यान न देने के लिए उन्हें दोष देना अनुचित होगा। उनके सामने विभिन्न परिस्थितियां थीं। एक बात तो यह थी कि टैगोर को टिकट खरीदने वाले लोगों की मांग को पूरा करने के लिए नाटक लिखने या प्रस्तुत करने नहीं पड़ते थे, जबकि गिरीश घोष और शिशिर भादुड़ी को ऐसा करना पड़ता था।

टैगोर ने सन् 1881 में जो प्रथम नाटक मंचित किया वह 'वाल्मीकि प्रतिभा' था और अंतिम नाटक 'श्यामा' था, जो कि उनकी मृत्यु के पूर्ववर्ती वर्ष सन् 1940 में मंचित किया गया था। इसका अर्थ यह नहीं है कि नियमित प्रदर्शन होते थे या यह कि वे बहुधा अभिनय किया करते थे। किंतु सभी प्रकार से वे एक प्रथम श्रेणी के अभिनेता थे। एडवर्ड थाम्पसन 'शारदोत्सव' में उनके अभिनय के बारे में लिखते हैं: "संध्याकाल का देदीप्यमान प्रदर्शन चंद्रशेखर और अंधे वैतालिक बाउल की दोहरी भूमिका का स्वयं रवीन्द्रनाथ द्वारा निर्वाह था। दोनों भूमिकाएं अत्यधिक उत्कृष्ट थीं, किंतु बाउल का निर्वचन शोकपूर्ण उच्चता की एक ऐसी ऊंचाई तक पहुंच गया कि उसे सहन करना बहुत मुश्किल था।" 'विसर्जन' जिसमें टैगोर ने, जब वे 62 वर्ष के थे, युवा जयसिंह की भूमिका की थी, की समीक्षा करते हुए बंगला रंगमंच के धुरंधर अमृतलाल बसु ने 'इंडियन डेली न्यूज' के 4 सितंबर, 1923 के अंक में लिखा था: "जैसे-जैसे नाटक आगे बढ़ा मैंने अनुभव किया कि रंगमंच के मुझ पुराने खिलाड़ी को अभिनय-कला के नए पाठ मिल रहे थे। महान कवि एक महानतर अभिनेता हैं, रंगमंच शिल्प की तकनीक के आचार्य हैं।"

रंगमंच के संबंध में टैगोर के विचारों में जो-जो परिवर्तन हुआ था और

उन्होंने उनका जो व्यावहारिक प्रयोग किया था वह उनके नाटकों के रूप और अंतर्वस्तु में हुए परिवर्तन के अनुरूप था, यद्यपि वह कालानुसार समांतर नहीं था। आरंभिक कालावधि में बल उस समय प्रचलित परिपाटी के अनुसार 'यथार्थवादी' निरूपण पर दिया जाता था। टैगोर की भतीजी इंदिरा देवी चौधरानी अपनी पुस्तक 'रवीन्द्र स्मृति' में लिखती हैं: "आरंभिक कालावधि में हमारी रूप-सज्जा तथा रंगपट अधिकतर पश्चिम के अनुकरण थे। हरीश चंद्र हालदार अंग्रेजी अकादमी शैली का यथासंभव अधिकतम अनुकरण करते हुए दृश्य चित्रित किया करते थे। उन दिनों में लक्ष्य बाहरी वास्तविकता का यथा-संभव अनुकरण करना था।"[1] उस समय तक जब सन् 1917 में जोड़ासांको हाउस के उपभवन विचित्रा हाल में एक दर्शक-वर्ग के सम्मुख, जिसमें अन्य व्यक्तियों के बीच महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, पंडित मदनमोहन मालवीय तथा श्रीमती एनी बेसेंट भी उपस्थित थे, 'डाकघर' प्रस्तुत किया गया तो परिवर्तन देखा जा सकता था, यद्यपि टैगोर ने रंगपटों को एकदम अलग नहीं कर दिया था। इंदिरा देवी इस प्रस्तुति को मध्यवर्ती कालावधि का मानती हैं। वे लिखती हैं कि "रंगपट एक निम्न मध्यमवर्गीय ग्रामवासी का घर चित्रित करता था। फूस की छत मंचाग्र के ऊपर निकली हुई थी।"

यद्यपि टैगोर कभी-कभी कलकत्ता आते थे और नाटक प्रस्तुत करते थे, तथापि वे अपने नाटक अधिकांशत: शांतिनिकेतन में मंचित किया करते थे। वहां भी प्रस्तुतियां परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरती थीं। प्रमथनाथ बिशी अपनी पुस्तक 'रवीन्द्रनाथ ओ शांतिनिकेतन' में लिखते हैं: "यदि कोई व्यक्ति शांति-निकेतन के रंगमंच का इतिहास लिखे तो हम यह देखेंगे कि विकास बहुत व्यंजक था। आरंभिक दिनों में हमने यह देखा था कि व्यावसायिक वस्त्र-निर्माताओं से खरीदे गए वस्त्रों का उपयोग किया जाता था। आगे चलकर धीरे-धीरे उनके स्थान पर स्थानीय कलाकारों द्वारा अभिकल्पित वस्त्रों का उपयोग किया जाने लगा। कलाकारों ने मंच के पीछे के चित्रित पर्दे और यवनिका बनाने से कार्यारंभ किया। भड़कीले वस्त्रों और जेवरों को धीरे-धीरे छोड़ दिया गया। संगीत में संगत के लिए वीणा, इसराज तथा बांसुरी ने हार्मोनियम का स्थान ले लिया।"[2]

टैगोर कलकत्ता के रंगमंच के तौर-तरीकों को पसंद नहीं करते थे। सन् 1902 में 'बंगदर्शन' में प्रकाशित एक लेख में उन्होंने लिखा: "भरत के नाट्यशास्त्र में मंच का वर्णन है किंतु चित्रित दृश्यों का उल्लेख नहीं मिलता। मैं

1. अनुवाद।
2. अनुवाद।

यह नहीं समझता कि यह विलोप कोई बड़ी हानि प्रदर्शित करता है···। अभिनय-कला को काव्य (लिखित शब्द) का सहायक होना चाहिए। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि उसे अन्य सभी कलाओं का दास होना होगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि नाटक के शब्द अभिनेता के लिए आवश्यक हैं। किंतु अभिनेता के पीछे के चित्रित दृश्य क्यों आवश्यक हैं?···एक-दो वृक्षों, किसी कमरे या किसी नदी की कल्पना करना कठिन नहीं है। यदि चित्रित दृश्यों के कारण कल्पना करने के इस छोटे-से कार्य से भी हम वंचित रह जाते हैं तो वह हममें विश्वास के पूर्ण अभाव की घोषणा जैसी होगी। इसीलिए मैं बंगाल के जात्रा नाटक को पसंद करता हूं। जात्रा में दर्शकों से अभिनेताओं का कोई निषेधकारी पृथक्करण नहीं है। उनके बीच पारस्परिक विश्वास तथा निर्मलता का एक सरल बंधन-सूत्र है जिससे हस्तगत कार्य की सफलता में सहायता मिलती है।"[1] न ही वे अभिनय की शैली को पसंद करते थे। अपनी पुस्तक 'पथेर संचय' में उन्होंने लिखा: "यद्यपि अभिनयकला में अन्य कलाओं की अपेक्षा अनुकरण पर अधिक बल दिया जाता है, तथापि वह कदापि तोते की कला नहीं है। उस पर स्वाभाविकता की यवनिका को अलग करने तथा वस्तुओं की आंतरिक वास्तविकता को उद्घाटित करने का उत्तरदायित्व होता है। यदि अनुकरणात्मक स्वाभाविकता पर बहुत अधिक बल दिया जाता है तो आंतरिक दृश्य मेघाच्छन्न हो जाता है। किसी पात्र की भावात्मक उथल-पुथल को अभिव्यक्त करने के लिए अभिनेता बहुधा उग्र हाव-भावों तथा भावुकतापूर्ण और ओजस्वी भाषण का सहारा लेता है। मेरे विचार से इसका कारण यह है कि उसका लक्ष्य सत्य को अभिव्यक्त करने के बजाय उसका अनुकरण करना होता है। झूठ बोलने वाले गवाह की भांति उसे अतिरंजना करनी होती है।"[2] उन्होंने उस समय के बंगला रंगमंच के दूरस्थ आराध्य अंग्रेज अभिनेताओं को नहीं बख्शा: "किंतु इंग्लैंड में मैंने इसका अत्यंत ज्वलंत उदाहरण देखा। वहां मैं 'हैमलेट' और 'ब्राइड आफ लैमरमूर' में इर्विंग को देखने गया। मैं अवाक रह गया। उनके अभिनय की अनियंत्रित अतिरंजना नाटकों की प्रांजलता तथा आंतरिक सौंदर्य को पूर्णतः नष्ट कर देती थी। वह लोगों की भावनाओं को विचलित कर देती थी किंतु लोगों को विषय के मर्म में प्रवेश करने से रोकने वाली एक अलंघनीय बाधा बन जाती थी।"[3] बहुत समय बाद टैगोर ने बंगला रंगमंच संबंधी अपने अप्रशंसात्मक विचारों को दोहराया और लिखा कि "जिस ढंग से बंगाल के व्यावसायिक रंगमंच कार्य कर रहे हैं वह कदापि आशा-

1. अनुवाद।
2. अनुवाद।
3. अनुवाद।

जनक नहीं है। जिस किसी भी व्यक्ति में कुछ कला तथा सौंदर्य-बोध है उसे तकलीफ हुए बिना नहीं रहेगी।" अंततः, सन् 1929 में उन्होंने 'तपती' के आमुख में लिखा : "आधुनिक यूरोपीय रंगशालाओं, यथार्थवादी रंगपटों तथा चित्रित दृश्यों द्वारा मंच की सजावट एक अनुचित हस्तक्षेप है। यह बचकाना प्रयास है और मात्र छलना है। वह साहित्य और रंगमंच की कला के बीच बलात् रखा गया व्यवधान है···। वह दर्शक की कल्पना को घेर देता है और संकीर्ण कर देता है। इसीलिए मैं ऐसी किसी भी प्रस्तुति में, जिसमें मेरा हाथ होता है, दृश्यों के बहुधा परिवर्तन और परदा उठाने-गिराने की किशोरोचित आदत से प्रसन्न नहीं होता। ऐसी बात एक ओर तो बाहरी वास्तविकता का उपहास करती है और दूसरी ओर आंतरिक सत्य को उभरने से रोकती है।"

टैगोर के विचारों से यह संकेत मिलता है कि उन्होंने कुछ अंतिम सिरों को और एक वर्णसंकरकृत रंगमंच की दुविधा को पहले से देख लिया था। अपने स्वयं के ढंग से उन्होंने अपने नाटकीय तथा रंगमंचीय साधनों का निर्माण किया था तथा वह मार्ग सूचित करने का प्रयत्न किया था जिससे कोई वास्तविक भारतीय रंगमंच अस्तित्व में आ सकता था—एक ऐसा रंगमंच जो अपनी सहज प्रकृति के प्रति सत्यनिष्ठ हो, जो द्वंद्व के बजाय संश्लेषण के भारतीय विचारों द्वारा प्रेरित नाटकों पर, बाह्य क्रियाओं के बजाय आंतरिकता पर जीवित रहे और जो सार्वलौकिक सत्यों की अभिव्यक्ति के लिए पारंपरिक स्रोतों पर निर्भर रहे। किंतु बंगला रंगमंच कतिपय ऐतिहासिक स्थितियों से उद्भूत सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के एक समुच्चय का उत्पाद था। टैगोर ने छोटी, अंतरंग रंगशालाओं का समर्थन किया, जो कि, जैसाकि उन्होंने कहा था, "केवल विवेकशील तथा सुसंस्कृत लोगों का मिलन-स्थल हो।" किंतु संभवतः उन्होंने यह नहीं देखा था कि ऐसी रंगशालाओं को महत्व तब प्राप्त होता है जब व्यापक लोक-आधार-युक्त रंगमंच पहले से ही विद्यमान हो। जैसाकि हुआ था, छठे दशक में बंगला रंगमंच का पुनरुत्थान उन छोटी रंगशालाओं द्वारा किया गया था जिनकी चर्चा टैगोर किया करते थे। उन अनेक व्यक्तियों के विचार, जिन्होंने उनका निर्माण किया था, कुछ मामलों में टैगोर के विचारों के समान ही थे। किंतु 'नव नाट्य आंदोलन' पर टैगोर के प्रत्यक्ष प्रभाव के संबंध में कोई भी दृढ़ या सामान्यीकृत अनुमान संवीक्षा करने पर टिक नहीं सकेगा। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि युद्धोत्तर तथा स्वातंत्र्योत्तर कालावधि में बंगला अल्पसंख्यक रंगमंच की नई दिशाओं का प्रणोद टैगोर के विचारों और आह्वानों से उद्भूत था।

13

रंगमंच, सन् 1930-1944

चौथे दशक में रंगमंच के ढर्रे में फंस जाने के स्पष्ट लक्षण दिखाई दे रहे थे। कलकत्ता का बढ़ना नहीं रुका था, किंतु आर्थिक स्थिति सामान्यतः बदतर हो रही थी। दशक के प्रथम वर्षों में राजनैतिक गतिविधियों का गहनीकरण हुआ। सन् 1929 में कांग्रेस पार्टी ने घोषित किया कि संपूर्ण स्वतंत्रता उसका लक्ष्य है। गांधीजी ने एक जन आंदोलन आरंभ किया और हजारों लोग गिरफ्तार किए गए। देश के विभिन्न भागों में, विशेषतः बंगाल में और पंजाब में, आतंकवादी समूहों का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने राष्ट्रवाद की ज्वाला को भड़काया। तथापि रंगमंच ने प्रचलित भावनाओं की अनुक्रिया नहीं की, जैसा कि उसने पूर्वतर किया था, भले ही कितनी ही अनिश्चितता से किया हो। सन् 1933 के गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट में अंतर्विष्ट संवैधानिक परिवर्तनों के बाद राष्ट्रीय उत्साह स्वयं क्षीण हो गया। राष्ट्रवादी भावनाओं के विचार-तत्व में भी परिवर्तन हो रहा था और वह नई सामाजिक संकल्पनाओं द्वारा आकारित हो रहा था। रंगमंच ने इस बात का कोई प्रमाण नहीं दिया कि वह इन सामाजिक तथा राजनैतिक वास्तविकताओं के प्रति जागरूक था। प्रतिसारी आर्थिक स्थितियां, जिन्होंने मध्यम वर्गों के पारंपरिक प्रश्रय को ध्वस्त कर दिया था, संभवतः इस अनुक्रियाहीनता के लिए उत्तरदायी थीं। इसके अतिरिक्त अच्छे नाटकों की चिरकालिक कमी भी थी। शिशिर भादुड़ी उन नाटकों और भूमिकाओं पर, जिन्हें उन्होंने प्रसिद्ध बना दिया था, व्यंग्य करते हुए कहा करते थे : "नाटक कहां था ?" वे यह प्रश्न पूछने के अधिकारी थे।

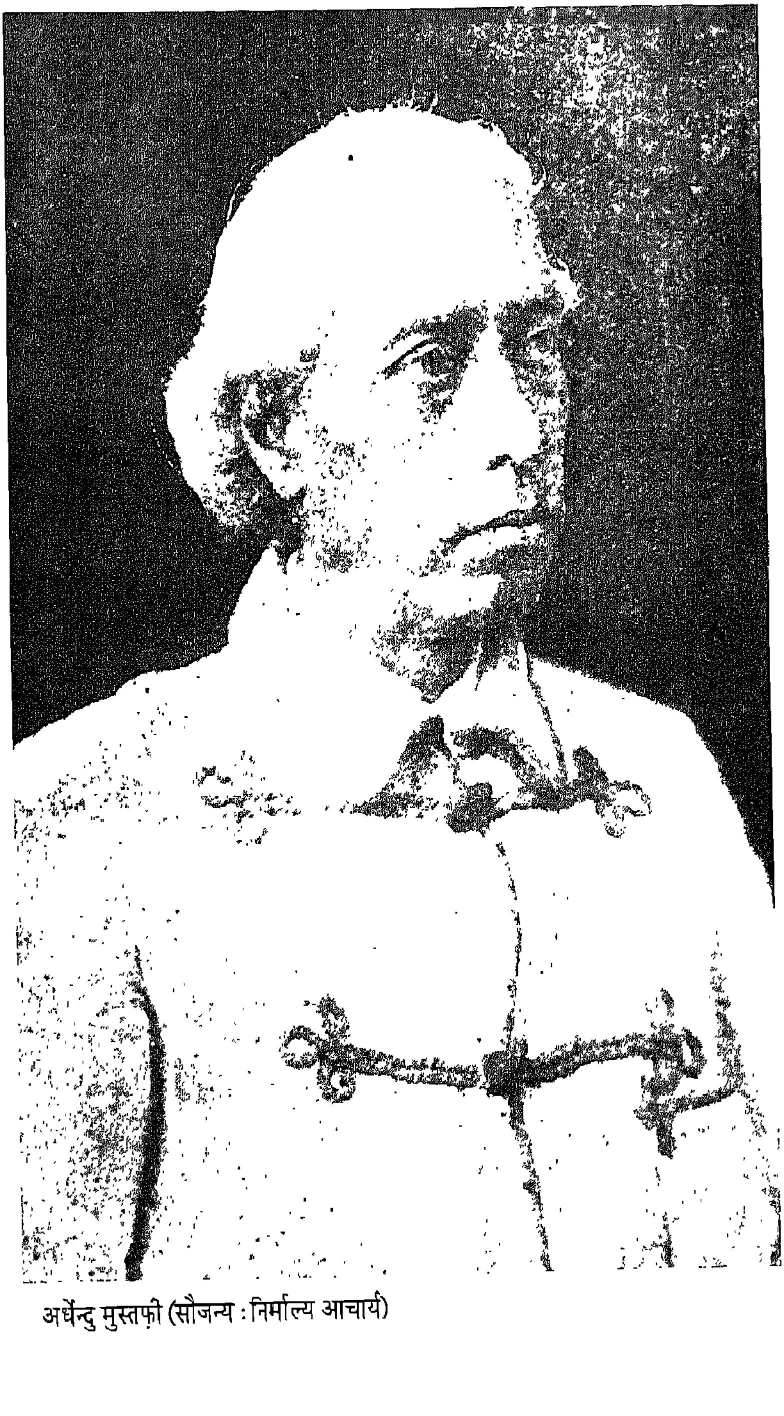
चौथे दशक के दौरान प्रस्तुत किए गए नाटकों की सूची को देखकर विषाद होता है। उनमें वे पुराने नाटक थे जो मृतवत हो चुके थे। डी० एल० राय, क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद, अपरेश मुखर्जी तथा जोगेश चौधरी के नाटक भी जीर्ण-शीर्ण हो रहे थे। उपन्यासों तथा कहानियों के नाट्य-रूपांतरणों पर निर्भर रहना पड़ता था। शिशिर भादुड़ी की निर्देशात्मक प्रेरणा भी क्षीण हो रही थी और रंगमंच एक ऐसी अवस्था में लौट गया था जहां अभिनेताओं की स्थिति शोचनीय हो गई थी।



प्रफुल्ल में जोगेश के रूप में गिरीश घोष (सौजन्य : निर्माल्य आचार्य)



शिशिर भादुड़ी (छायाचित्र : परिमल गोस्वामी; सौजन्य : हिमानीश गोस्वामी)



अर्धेन्दु मुस्तफ़ी (सौजन्य : निर्माल्य आचार्य)



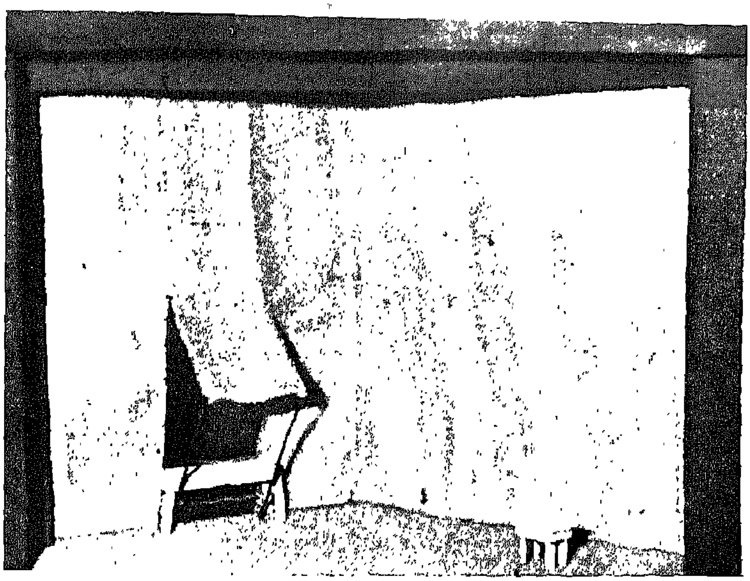
बिनोदिनी दासी (सौजन्य : निर्माल्य आचार्य)



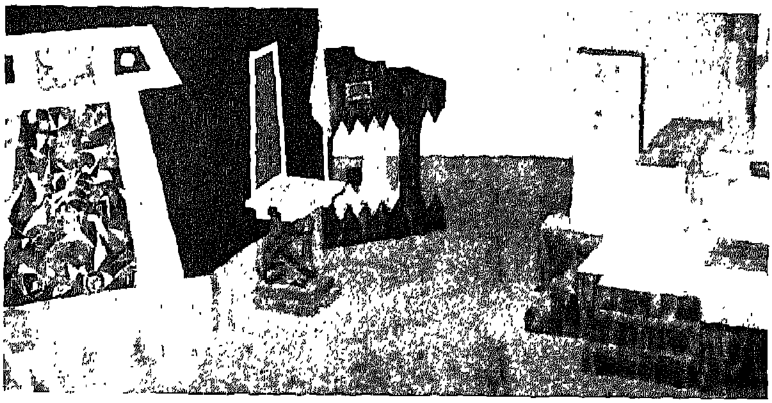
शंभू मित्र और तृप्ति मित्र **राजा ओयडिपस** में (सौजन्य : शांति दास)



तिन पोयसार पाला का माडल सेट – नंदिकर प्रोडक्शन (सौजन्य : प्रतिभा अग्रवाल)



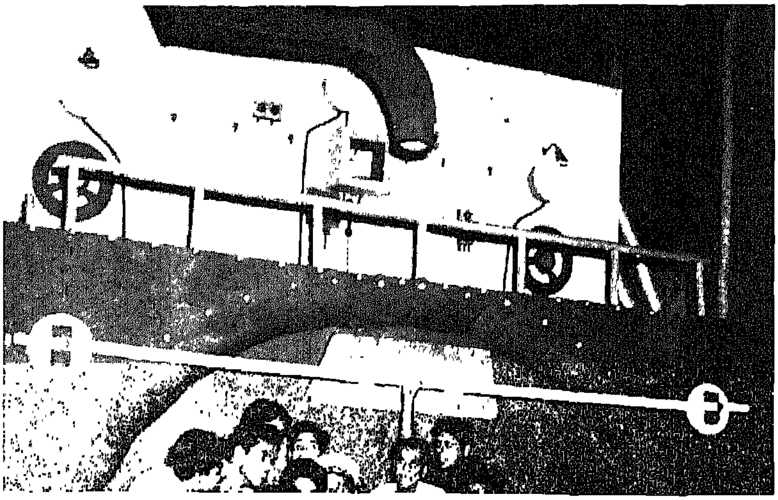
नबन्ना का माडल सेट : इप्टा प्रोडक्शन (सौजन्य : प्रतिभा अग्रवाल)



रक्तकरबी का सेट – बहुरूपी प्रोडक्शन (सौजन्य : शांति दास)



दासचक्र में शंभू मित्र – बहुरूपी प्रोडक्शन (सौजन्य : शांति दास)



कल्लोल में उत्पल दत्त – एल टी जी प्रोडक्शन (सौजन्य : शंभू बनर्जी)

सिनेमा ने, जो उस समय तक बोलने और गाने लगा था, स्थिति को और भी खराब कर दिया था। मूक बायस्कोप रंगमंच के बाजार पर आक्रमण कर चुका था। अब बाजार और भी घट गया। दो कारणों से रंगमंच जीवित रहा और दीर्घकालीन संकट से जूझता रहा। प्रथमतः, 'नाटक देखना' बंगाली भद्र लोगों की एक आदत बन गई थी। द्वितीयतः, अनेक उत्कृष्ट अभिनेता सामने आए थे।

डी० एल० राय तथा क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद समकालीन थे। जब सन् 1926 में विद्याविनोद की मृत्यु हुई तब तक उनके कुछ ही नाटक अपनी लोकप्रियता बनाए रख पाए थे। हम यह देखते हैं कि जिन नाटकों की लोकप्रियता बनी हुई थी—'चंद्रगुप्त', 'शाहजहां' तथा 'आलमगीर'—वे सभी ऐतिहासिक नाटक थे। उनके बाद जो नाटककार आए उनके लिए 'ऐतिहासिक' नाटक अपना आकर्षण खो चुका था। उन्होंने कुछ नाटक लिखे किंतु सचिन सेनगुप्त को छोड़ वे इतिहास और ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति अत्यधिक आकृष्ट नहीं थे। अधिकांशतः उन्होंने सामाजिक नाटक लिखे, किंतु पूर्वतर 'सुधारक' प्रकार के नहीं। कुछ नाटकों में समकालीन सामाजिक वास्तविकताओं का चित्रण और निरूपण करने के प्रयोगात्मक प्रयत्न किए गए थे।

इस काल के नाटककारों में अग्रणी मन्मथ राय थे, जो कि संक्रमण-काल के प्रारूपिक प्रतिनिधि थे। पुरानी प्रथाएं और परंपराएं नई सामाजिक चेतना के साथ सहविद्यमान थीं। अपनी पूरी लंबाई के अनेक नाटकों के लिए उन्होंने महाकाव्यों और पुराणों के उपाख्यानों को चुना जो उन्हें पौराणिक नाटक बना देते थे। किंतु उन्हें सर्वथा पौराणिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे उन कथाओं का उपयोग समकालीन प्रयोजनों के लिए करते थे। उदाहरणार्थ, कंस के वध के लिए कारागार में जन्म लेने वाले भगवान कृष्ण की पौराणिक कथा पर आधारित नाटक 'कारागार' स्पष्टतः राजनीतिक परिस्थिति का रूपक था। वह सन् 1930 में लिखा गया था, जब गांधीजी का आंदोलन पूरे वेग में था और जेलें भरी हुई थीं। नाटक में चित्रित प्रतिस्पर्धी शक्तियां तथा संघर्ष के समांतर अभिज्ञेय थे। इसी प्रकार नाटक 'देवासुर' में, जो कि सुरों और असुरों के बीच हुए युद्ध की कथा पर आधारित है, दधिचि के आत्म-बलिदान का संदेश स्पष्ट है। उनके नाटकों के देवतागण अपनी अभिप्रेरणाओं और क्रियाओं में देवता कम हैं और मानव अधिक हैं। मन्मथ राय ने अपने कुछ नाटकों में साधारण लोगों को नायक बनाकर नया प्रयोग किया। उनके कुछ नाटकों में देवताओं, राजाओं, राजकुमारों, संतों, उच्चतर तथा मध्यम वर्ग के बंगालियों के बजाय निर्धन लोगों ('आर्केस्ट्रा'), उपेक्षित और दुःखी लोगों ('ततपारा'), शोषित आदिवासियों ('संताल विद्रोह') तथा कारखाना कामगारों ('धर्मघट') को लिया गया है।

दुर्भाग्यवश, वे किसी उन्नत नाटकीय रूप तथा कथन-शैली का विकास न कर पाए। जीर्ण-शीर्ण नाटकीय परंपराओं के प्रति आसक्ति ने उनके नाटकों को उनकी आधुनिकता और सार्थकता से बहुत वंचित कर दिया। अपने परवर्ती नाटकों में उन्होंने इनमें से कुछ त्रुटियों को सुधारा, किंतु वे भूतकाल से अपने पूर्वतर संबंधों को न तोड़ सके। तथापि, उन्होंने अनेक एकांकी नाटक और रेडियो नाटक लिखे, जो कि पहले अज्ञात थे।

मन्मथ राय किसी रंगमंचीय समूह के नहीं थे या उन्होंने स्वयं को किसी रंगमंचीय समूह से संलग्न नहीं किया। अंशतः इसी कारण उनके नाटकों को नियमित रंगशालाओं ने नहीं चुना। इस विषय में सचिन सेनगुप्त तथा बिधायक भट्टाचार्य अधिक भाग्यशाली थे। किंतु उनमें नाटकों की रंगमंचोपयोगिता की अच्छी समझ थी और वे दर्शकों की प्रतिक्रिया को अधिक अच्छी तरह आंक सकते थे। व्यावसायिक रंगमंच से सचिन सेनगुप्त की संबद्धता दोनों ही गुणों के विकास में सहायक हुई। उन्होंने अनेक ऐतिहासिक नाटक लिखे, जो राष्ट्रवाद और सामुदायिक एकता का उपदेश देते थे, किंतु उनमें इतिहास का और तर्क-संगति का बहुत ही कम ध्यान रखा गया था। उनमें और परिचित तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं का निरूपण करने वाले अपने सामाजिक नाटकों में उन्होंने संभाषणों में चित्त में सिहरन पैदा कर देने वाले गहरे लाल अंशों की सहायता से नाटकीय रचना तथा भावात्मक तनाव उत्पन्न करने की सहजता प्रदर्शित की।

तुलनात्मक दृष्टि से बिधायक भट्टाचार्य के नाटक कम बोझिल हैं। उनकी रुचि का क्षेत्र अधिक संहत है और नगरीय बंगाली मध्यम वर्ग तक संसीमित है। इस कारण या अन्यत्र किए गए नाटकीय रूपों के प्रयोगों की उनकी जानकारी के कारण नीरस रंगमंच की इस कालावधि के अन्य नाटकों की अपेक्षा उनके नाटक अच्छे बन पड़े हैं। उन्होंने नई युक्तियों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया। उदाहरणार्थ, नाटक 'खेलाघर' में एक उजड़े हुए नाटककार का अभिनय करने वाला चरित्र दर्शकों से माफी मांगता है कि उसके पास वह नाटक तैयार नहीं है जो उसे लिखने के लिए दिया गया था और फिर वह दूसरे पात्रों के साथ जल्द-बाजी में कोई नाटक प्रस्तुत करने का अभिनय करता है। नाट्य लेखन के शिल्प की उनकी अच्छी पकड़ उन रियायतों को, जो वे उत्तेजनापूर्ण सुखांत घटनाओं और अतिरंजित चरित्रों को देखने के लंबे समय से आदी दर्शकों को सहज दिया करते थे, कुछ हद तक छिपा देती है। 'माटीर घर' जैसे उनके कुछ आरंभिक नाटक तथा बहुत बाद लिखे गए 'क्षुधा' जैसे नाटक बहुत लोकप्रिय हुए हैं।

उन अनेक लेखकों में, जिन्होंने नाटक लिखने का प्रयास किया, तीन व्यक्ति थे। यदि नाटकों की संख्या के आधार पर निर्धारण किया जाए तो चौथा दशक

और पांचवें दशक के आरंभिक वर्ष काफी उर्वर वर्ष रहे। स्थापित कवियों तथा उपन्यासकारों ने साहित्यिक प्रयोगों के रूप में अनेक नाटक लिखे। इनका रंगमंच पर कोई तात्कालिक प्रभाव न हुआ होगा। किंतु वे शिक्षित लोगों को नए नाटकीय रूपों से परिचित कराने में सहायक हुए। चौथा दशक भी वह काल था जब रंगमंच शिल्प में कुछ यांत्रिक नवाचार किए गए। एक था परिभ्रामी रंगमंच, जिसके सहारे दृश्यों में शीघ्र परिवर्तन हो सकता था। तथाकथित वैगन स्टेज तथा नए प्रकाश-उपकरण तथा तकनीकों का सूत्रपात हुआ। इस कालावधि के दौरान लोकप्रिय अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का एक नया दल सामने आया, किंतु इन बातों के बावजूद रंगमंच की बराबर अधोगति होती रही।

शिशिर भादुड़ी का 'नाट्य मंदिर' सन् 1929 में बंद हो गया। 'स्टार' में स्थित आर्ट थिएटर लिमिटेड जून, 1933 में अवसायित हो गया। उसके स्थान पर सर्वप्रथम आया शिशिर भादुड़ी का 'नव नाट्य मंदिर'। उनके बाद मिनर्वा के भूतपूर्व प्रबंधक-किराएदार उपेंद्र मित्र आए। वे एक सुयोग्य प्रबंधक थे और उन्होंने रंगशाला की स्थिति संभाल ली। उपेंद्र मित्र ने मिनर्वा का परिश्रमपूर्वक निर्माण तथा प्रबंध किया, जिसके कारण वह किसी प्रकार उस संकट का सामना कर सका जो उनके उसे छोड़ जाने के बाद उपस्थित हुआ था। नए प्रबंधक-वर्ग ने निर्मलेंदु लाहिड़ी, दुर्गादास बैनर्जी, छवि विश्वास, सरजूबाला देवी तथा शांति गुप्त जैसे लोकप्रिय अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का सहयोग प्राप्त किया। अनेक नए तथा पुराने नाटक प्रस्तुत किए गए किंतु उनमें न तो अधिक आयोजन था और न अधिक प्रयोजन ही था। यह एक चलते रहने का मामला था और मिनर्वा पांचवें दशक के उत्तरार्द्ध तक अपना अस्थिर, दीन-हीन अस्तित्व बनाए रख सका। सन् 1931 में निर्मित रंगशाला 'रंगमहल' का अस्तित्व भी ऐसा ही, अनिश्चित, था, जब कुछ वर्ष बाद एक उपन्यास के नाट्य रूपांतरण 'महानिषा' से उसे अच्छी आमदनी हुई। यह नाटक व्यवसाय की दृष्टि से बहुत सफल हुआ। यह नाटक भावुकतापूर्ण मेलोड्रामा और पारंपरिक मूल्यों की परिपुष्टि के अति प्रिय मिश्रण का नए ढंग से प्रस्तुत किया गया रूप है। किंतु प्रस्तुति में कतिपय नूतनता थी। इसका श्रेय मुख्यत: सतु सेन को था, जिन्होंने पूर्वतर न्यूयार्क में वांडरबिल्ट थिएटर में कार्य किया था। शिशिर भादुड़ी के संयुक्त राज्य अमेरिका के दुर्भाग्यपूर्ण दौरे में सतु सेन ने उनकी सहायता की थी। वे आपवादिक योग्यता वाले रंगमंच-शिल्पी थे। उन्होंने परिभ्रामी रंगमंच का उपयोग किया जिसकी स्थापना में उन्होंने सहायता पहुंचाई। उन्होंने कथनात्मक संक्षेपण तथा दृश्य प्रवाहिता प्राप्त करने के लिए अन्य यांत्रिकीय साधनों का भी उपयोग किया। उन्होंने प्रकाश-व्यवस्था के स्वरूप और अनुप्रयोग में परिवर्तन किया और प्रकाश-दीपों का उपयोग स्वाभाविकता लाने और नाटक के नाटकीय

स्थलों को सुस्पष्ट करने के लिए किया। सतु सेन संभवतः बंगला रंगमंच के वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने नाटक की 'मार्उंटिग' की संकल्पना पर कार्य किया। चौथे दशक के दौरान 'रंगमहल' की तुलनात्मक वित्तीय स्थिरता का बहुत-कुछ श्रेय इस प्रतिभाशाली व्यक्ति के कार्य और कल्पना को दिया जाना चाहिए।

अमेरिका से लौटने पर सतु सेन सर्वप्रथम 'नाट्य निकेतन' में सम्मिलित हुए। यह एक अन्य रंगशाला थी जो रंगमहल के पास और उसी वर्ष निर्मित की गई थी जिस वर्ष रंगमहल का निर्माण हुआ था। यद्यपि कुछ समय तक शिशिर भादुड़ी तथा अनुभवी प्रबंधक प्रबोध गुह उनके सहायक थे, तथापि यह दल शीघ्र टूट गया और नाट्य निकेतन जीर्ण-शीर्ण हो गया। वह किसी तरह घिसटता रहा और इसके दौरान कई अभिनेता और अभिनेत्रियां उसमें आए और उसे छोड़-कर गए और उसकी हालत खराब होती गई और कर्ज बढ़ता गया। सन् 1941 में वह अंततः बंद हो गया, जब शिशिर भादुड़ी ने नाट्यशाला को अपने हाथों में लिया और अपने 'श्रीरंगम' का श्रीगणेश किया। यह देखकर कुछ आश्चर्य होता है कि मंदी की इस कालावधि में दो रंगशालाएं आरंभ हुई। दोनों अल्पजीवी रहीं और आगे चलकर दोनों ही को सिनेमा-हालों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। इन दो रंगशालाओं मे से 'नाट्य भारती', जो कि एक पुरानी, काम में न लाई जा रही नाट्यशाला में स्थित थी, उत्तर कलकत्ता की रंगशाला स्थली से कुछ दूरी पर नगर के मध्यवर्ती भाग में थी। वह सन् 1939 में आरंभ हुई और चार वर्षों के अपने अल्प जीवन-काल में उसने बहुत कम गुणवत्ता वाले अनेक जीविकोपार्जक नाटक प्रस्तुत किए। दक्षिण कलकत्ता में स्थित 'कालिका' ने तो बंद होने के पहले उचित ढंग से कुछ कार्य भी नहीं किया।

पांचवें दशक के मध्य तक बंगला रंगमंच अपने चरम अंत पर पहुंच गया था। नाट्यशालाएं निर्धनता और बासीपन का जर्जर दृश्य प्रस्तुत करती थीं। यांत्रिक संसाधनों, अनेक नाटकों तथा कुछ लोकप्रिय अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की अपनी पूंजी के बल पर उन्हें जो कुछ मिल सकता था उसी को लेकर वे चल रही थीं। किंतु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चली। दर्शकों के बढ़ते हुए असंतोष को परख न सकने के कारण, प्रतिकूल बाह्य कारकों के मुकाबले में असमान होने के कारण, चारों ओर फैली सच्चाई को न समझ पाने के कारण, उपक्रमहीन होने के कारण रंगमंच अपनी ह्रासमान पूंजी पर निर्भर रहते हुए दयनीय स्थिति में चलता रहा। उसमें उन्नत रंगमंच तकनीकों की संभावनाओं और दुर्गादास बैनर्जी तथा अहीन्द्र चौधरी जैसे अभिनेताओं या श्रीमती प्रभा जैसे अभिनेत्री की क्षमता का उपयोग करने की कल्पनाशीलता भी नहीं थी।

दुर्गादास बैनर्जी का व्यक्तित्व असाधारण रूप से सुदर्शन था और उनकी आवाज मोहक थी। वे एक जन्मजात अभिनेता थे। एक रोमानी नायक तथा

प्रेमी के रूप में, जो कि बंगला रंगमंच के लिए एक नया प्रकार था, उनका कोई सानी नहीं था। उन्होंने अपने पात्रों को संवर्धित शिष्टता दी और उनमें अपने दृश्यों को संयत रूप से और अपनी आवाज की ओजस्विता से अभिनीत करने की क्षमता थी। वे उस प्रकार के अभिनेता के प्रथम आद्यरूप थे जो कि आगे चलकर मैटिनी आयडल कहलाए।

दुर्गादास बैनर्जी ने सन् 1923 में 'कर्णार्जुन' नाटक में एक छोटी भूमिका की। इस नाटक ने 'आर्ट थिएटर' को प्रतिष्ठा भी दी और स्थिरता भी दी। इसी नाटक के कारण अहीन्द्र चौधरी विख्यात हो गए और यह ख्याति उनके सुदीर्घ अभिनय-काल में कम नहीं हुई। वे शिशिर भादुड़ी के समकालीन थे और उन्होंने अपनी लोकप्रियता और अपने प्रशंसकों की निष्ठा कभी नहीं खोई। उनके प्रशंसक उन्हें शिशिर भादुड़ी की बराबरी का मानते थे और उन दोनों के गुणों पर वाद-विवाद किया करते थे। वे कभी भी असफल नहीं रहे। विभिन्न रंगशालाएं उन्हें पाने को लालायित रहा करती थीं और वे उन सभी रंगशालाओं से कभी-न-कभी जुड़े रहे। उनका शरीर कसरती था और उनके नाक-नक्श गरुड़वत् थे। अपने लंबे अभिनय-काल में उन्होंने जो असंख्य भूमिकाएं की थीं उनके चयन में बुद्धि के बजाय वे शारीरिक क्षमता और स्वरीय नियंत्रण पर अधिक निर्भर रहा करते थे। इस सुदृढ़ विश्वास को लेकर कि रंगमंच अभिनेता का था उन्होंने अभिनय के व्यवसाय का कुछ व्यावसायीकरण किया, जिससे बंगला रंगमंच पूर्वतर परिचित नहीं था। वस्तुत:, उन्होंने अपने स्वयं के सफल अभिनय से यह प्रदर्शित किया कि किसी भी अन्य व्यवसाय की भांति अभिनय का अर्थ प्रेरणा और स्वाभाविक रुझान के बजाय अनुप्रयोग, कठोर परिश्रम और निरंतर अभ्यास है। उन्होंने अनुशासन का एक सुधारात्मक पाठ पढ़ाया, जिसकी रंगमंच को बहुत आवश्यकता थी, किंतु जो उसने नहीं सीखा था। ऐसा वाणिज्यिक रंगमंच, जिसमें व्यवसायिकता का अभाव था जैसा कि बंगला रंगमंच, पांचवें दशक की प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने के योग्य नहीं हो सकता था। निराशा और बहाव के उन वर्षों में अहीन्द्र चौधरी उन कुछ अभिनेताओं में से एक थे जिनपर वह निर्भर रह सकता था। वे अत्यधिक सतर्क, परिश्रमी और रूप-सज्जा तथा वेशभूषा के बारे में परिपूर्णतावादी थे और सक्षम कार्य-संपादन के लिए उन पर सदैव निर्भर रहा जा सकता था। वे अपने दर्शकों को भलीभांति जानते थे और वे पुतलियों का खेल दिखाने वाले व्यक्ति की तरह उनकी प्रतिक्रियाओं को पहले से ही समझ लिया करते थे। नाटक आरंभ होने के पहले भी वे यह बता सकते थे कि दर्शक कितनी बार उनकी प्रशंसा करेंगे। उनका हिसाब विरले ही गलत हुआ करता था।

अन्य व्यक्ति भी थे, उदाहरणार्थ, श्रीमती प्रभा। उन्होंने नाट्य मंदिर में

नाटक 'सीता' की पहली ही प्रस्तुति में ख्याति अर्जित कर ली। शिशिर भादुड़ी ने उनके बारे में कहा कि उन्होंने उनके जैसी अभिनेत्री पहले कभी नहीं देखी। इनके अतिरिक्त निर्मलेंदु लाहिड़ी, जोगेश चौधरी, नरेश मित्र, श्रीमती मोलिना देवी, श्रीमती रानीबाला तथा अन्य व्यक्ति भी थे। ये सभी योग्य अभिनेता थे और उन्होंने अपना व्यवसाय सार्वजनिक रंगमंच की कठोर शाला में सीखा था। उनमें से लगभग सभी ने तीसरे दशक में प्रथम श्रेणी में स्थान प्राप्त कर लिया था और उसके बाद आई प्रतिकूलता की कालावधि में भी उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखी। उनका इस बात के लिए साभार स्मरण किया जाता है कि उन्होंने अवसादकर वर्षों में अपनी निष्ठा के बल पर रंगमंच को जीवित रखा।

कठिनाई के समय का एक अच्छा परिणाम हुआ। उसने रंगशालाओं को कुछ कालातीत, भले ही मामूली, सुधार करने के लिए बाध्य किया। प्रदर्शन का समय कम कर दिया गया। इससे नाटककार अधिक संहृत नाटक लिख सके और पुराने नाटकों का संपादन कर सके। विभिन्न दिन विभिन्न नाटक प्रस्तुत करने की परिपाटी त्याग दी गई। नाटक प्रस्तुत करने का व्यय बढ़ गया था और नए नाटकों का उपयोजन तभी किया जाता था जब कोई नाटक अपना अनुक्रम पूरा कर लेता था। एक दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि अपराह्नकालीन प्रदर्शन किए जाने लगे, जिसका तात्कालिक कारण यह था कि शहर में ब्लैक आउट लागू कर दिया गया। आरंभ में, रविवार के प्रदर्शनों का समय बदलकर 6.30 बजे से 3 बजे अपराह्न कर दिया गया। बाद में, जब लोग अंधेरे रास्तों से आने-जाने के आदी हो गए, रविवार के दिन दो प्रदर्शन रखने की प्रथा आरंभ की गई। पूर्वतर, एक रंगशाला ने सप्ताह के सभी दिन नाटक प्रस्तुत करने के प्रयोग की आजमाइश की थी। फिर दो मध्य-सप्ताह प्रदर्शन होने लगे। लोगों को दोनों ही प्रथाएं नहीं भाईं। पांचवें दशक में रंगशाला ने गुरुवार को एक मध्य-सप्ताह प्रदर्शन प्रस्तुत करने की प्रथा पुनः अपना ली। तब से कलकत्ता में तीन दिन में चार प्रदर्शन होते हैं। तथापि ये परिवर्तन अपर्याप्त थे। इसका कुछ उग्र उपचार आवश्यक था। वह व्यावसायिक रंगमंच के बाहर से आया।

14

'अन्य रंगमंच'

इस शताब्दी का पांचवां दशक भारत के लिए घटनापूर्ण था। बंगाल में घटनाओं ने प्रलयंकर रूप ग्रहण कर लिया था। अगस्त, 1941 में टैगोर का स्वर्गवास हो हो गया, मानो कि उनका देहावसान आगत घटनाओं का प्रतीक था। चार माह बाद जापान ने युद्ध में प्रवेश किया और भारत की पूर्वी सीमाओं की ओर जापानी सेनाओं के कूच करने के कारण वे शक्तियां गतिमान हो गईं, जिन्होंने बंगाली समाज की नींव को हिला दिया। अगस्त, 1942 में कांग्रेस पार्टी ने 'भारत छोड़ो' संकल्प पारित किया। नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और देश में उथल-पुथल मच गई। इस बीच जापान ने बर्मा पर कब्जा कर लिया था और पूर्वी क्षेत्र, जापान द्वारा भारत पर आक्रमण किए जाने की स्थिति में, जैसी कि आशंका थी, जापानियों से लड़ने और प्रत्याक्रमण करने के लिए मित्र राष्ट्रों की तैयारी का मुख्य केंद्र बन गया। कलकत्ता युद्ध संबंधी गतिविधियों का केंद्र बन गया और सैनिकों तथा अधिकारियों के झुंड-के-झुंड वहां आए। अर्थव्यवस्था में विशाल धनराशि उलीची गई और रोजगार तथा व्यवसाय में कृत्रिम तेजी आई और सैकड़ों ठेकेदार और बिचौलिए उस ओर आकृष्ट हुए। युद्धकालीन मुनाफाखोरी और कालाबाजारी पनपी और मानवीय तथा नैतिक मूल्यों में गिरावट आई।

वह गिरावट कितनी भयंकर और तेज थी, यह तथ्य सन् 1943-44 के बंगाल के कुविख्यात अकाल से प्रकट हो जाता है, जिसमें लगभग तीस लाख लोग कालकवलित हुए। अकाल पड़ने के कारणों की जांच हुई है और उन पर अनिर्णायक वाद-विवाद हुए हैं। तथापि, लड़खड़ाते हुए, भूखे लोगों के बारे में कुछ भी अनिश्चायत्मक नहीं था, जिन्होंने मुट्ठी-भर चावल के लिए, जो कि उन्हें नहीं मिला, अपने बच्चों सहित सब कुछ बेच दिया, और हजारों की संख्या में मरे। बमुश्किल पहचाने जाने वाले मानव शरीरों के एक अंतहीन अंत:प्रवाह का शहर में आना और उन लोगों का उसकी सड़कों पर मर जाना कलकत्ता में एक सामान्य दृश्य हो गया। इसके साथ-ही-साथ, कुछ लोग धन कमा रहे थे और वे उसे भद्दी तड़क-भड़क पर और सुख की कामुकतापूर्ण खोजों पर खर्च कर रहे थे।

अकाल के आघात से लोग संभले ही थे कि अगस्त, 1946 में किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर अभिभावी वर्ग साहित्यिक तथा कलात्मक प्रयास के परिचित क्षेत्रों में भी प्रतिक्रिया करने की शक्ति खो चुका था। अनुक्रिया का पंगुतापूर्ण अभाव रंगमंच में जितना दृष्टिगोचर होता था उतना अन्यत्र नहीं। युद्ध भड़क उठने पर, पहले से ही ओजविहीन हो चुके इस वर्ग की स्थिति ऐसी हो गई थी मानो कि वह नींद में चल रहा हो और वह आसपास की उथल-पुथल को न तो समझ पाता था और न उस पर चिंतन कर पाता था। उन दिनों के व्यावसायिक रंगमंच पर देखे गए नाटकों का जब स्मरण किया जाता है तो हममें अवास्तविकता की एक विलक्षण भावना जाग्रत होती है। रंगमंच-शिल्प और उत्कृष्ट अभिनेताओं के व्यक्तिगत प्रदर्शन में सुधार होने के बावजूद यह स्पष्ट था कि व्यावसायिक रंगमंच एक बंद गली में प्रवेश कर चुका था, जहां से निकलना न तो वह जानता था और न जहां से निकलने की उसे चिंता थी। आवश्यकता एक ऐसे नए प्रकार के नाटक और एक ऐसे नए प्रकार के रंगमंच की थी जो जीर्ण परंपरा की बोझिलता को त्याग दे।

ऐसे रंगमंच का धूमिल संकेत 'नवान्न' नाटक ने दिया, जो कि इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसियेशन ने प्रस्तुत किया था। यह एसोसियेशन भारतीय साम्यवादी दल के, जो कि नाजी जर्मनी द्वारा सोवियत संघ पर आक्रमण किए जाने के कारण धुरी शक्तियों के विरुद्ध युद्ध प्रयास के समर्थन में सन्नध हो उठा था, अनेक 'अग्र' संगठनों में एक संगठन के रूप में निर्मित किया गया था। पी० सी० जोशी के ओजस्वी नेतृत्व में साम्यवादी दल ने अपनी वैधकृत स्थिति का उपयोग अपनी स्थिति का विस्तार और सुदृढ़ीकरण करने के लिए किया। उसके कार्यक्रम का एक भाग बुद्धिजीवी वर्ग में अपना प्रभाव बढ़ाना था। उसने 'इप्टा' जैसे अनेक फासीवाद विरोधी संगठन बनाकर ऐसा किया। उन्होंने रंगमंच तथा अन्य कलाओं के पुनरुत्थान में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। अक्तूबर, 1944 में इप्टा द्वारा 'नवान्न' के प्रस्तुतीकरण से अल्पसंख्यक रंगमंच का प्रादुर्भाव हुआ, जो कि बहुत पूर्व बंगला रंगमंच का प्रबल स्वर बन चुका था। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटक, नाटककार तथा प्रस्तुति उचित क्षण पर बंगला रंगमंच का उद्धार करने के लिए एकत्र हुए।

इप्टा की बंगाल इकाई ने अपने बुद्धिजीवियों, दल के सक्रिय कार्यकर्त्ताओं, लेखकों, संगीतज्ञों, पत्रकारों, महत्त्वाकांक्षी अभिनेताओं और नाटककारों को आकृष्ट किया। यद्यपि उनकी आयु, उनकी पृष्ठभूमि, मनोवृत्ति, उपलब्धि तथा उनके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न थे, तथापि वे सामाजिक तथा कलात्मक विद्रोह की भावभूमि और मार्क्सवादी विचारों के प्रति एक अपरिमित निष्ठा लिए हुए एक सामान्य मिलन-स्थल पर आए। एंटी-फासिस्ट राइटर्स एंड आर्टिस्ट्स

एसोसियेशन तथा इप्टा के आरंभिकतम सदस्यों में से एक सदस्य बिजन भट्टाचार्य ने कृषक परिवार की निर्धनता पर 'जबानबंदी' नामक एक एकांकी नाटक लिखा था। स्टार थिएटर में 3 जनवरी, 1944 को उसका मंचन हुआ। एक अज्ञात नाटककार द्वारा लिखे गए और अधिकांशत: अव्यवसायियों द्वारा अभिनीत किए गए एक नाटक की यह रूपरेखा एक सदाशयपूर्ण प्रयास से अधिक कुछ नहीं रही होगी। इसके बजाय उसने एक हल्की सनसनी पैदा कर दी। इससे प्रोत्साहित होकर बिजन भट्टाचार्य ने 'नवान्न' नामक एक पूर्णांग नाटक उसी कथा-वस्तु पर लिखा, किंतु इसका अंत कृषक वर्ग की सामूहिक शक्ति की आशा और विश्वास की घोषणा के साथ हुआ था।

'नवान्न' सर्वप्रथम अक्तूबर और नवंबर, 1944 में प्रस्तुत किया गया था। नाटककार तथा शंभु मित्र द्वारा संयुक्त रूप से निर्देशित इस नाटक का आशातीत स्वागत हुआ। यह अनुक्रिया अकारण और पूर्णत: निष्क्रिय नहीं थी। अपनी सोद्देश्य ईमानदारी और कृत्रिमता के सचेतन प्रतिकार में यह नाटक उन सभी नाटकों से पूर्णत: भिन्न था जो कि पहले प्रस्तुत किए जा चुके थे। बहरहाल, उसकी समकालीनता उतनी ही अटल थी जितनी कि उसकी विषय संबंधी यथार्थता। विषय-वस्तु और रूप की दृष्टि से 'नवान्न' ने एक नई रंगमंचीय परिपाटी का शुभारंभ किया। कृत्रिम रंगपटों, चित्रित परदों तथा भ्रमोत्पादक प्रभाव उत्पन्न करने की होड़ समाप्त हो गई; व्यक्तिगत प्रतिभा के प्रदर्शन और नाट्यकलात्मक आतिशबाजी और उपलब्ध अभिनेताओं को जबर्दस्ती स्थान देने की परिचित प्रथा समाप्त हो गई। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उसमें कोई नई और प्राणमूलक बात थी।

नाटक 'नवान्न' श्रीरंगम में सात दिन तक ठसाठस भरी नाट्शालाअ में प्रदर्शित हुआ और उससे अभूतपूर्व उत्साह जाग्रत हुआ। वह वहां या किसी भी अन्य नाट्यशाला में अधिक समय तक चल सकता था, किंतु नाट्यशालाओं के मालिकों ने, जो कि एक ऐसी चीज की लोकप्रियता को देखकर हतप्रभ हो गए थे, जिसे उनके मतानुसार कुछ युवा साहसोन्मत व्यक्तियों ने प्रस्तुत किया था, अपने रंगमंच किराये पर देने से इनकार कर दिया। तबसे इप्टा ने अपने नाटक विभिन्न स्थानों में, बहुधा अस्थायी रंगमंचों पर, प्रदर्शित किये। उसने अपरिहार्यत: इतने अधिक लोगों को आकृष्ट किया जितने किसी भी अन्य नाट्यशाला में स्थान नहीं पा सकते थे। मार्च, 1945 में हुए एक प्रदर्शन के बारे में एक साप्ताहिक पत्र ने लिखा कि वह कम-से-कम 7000 लोगों के सम्मुख प्रदर्शित किया गया था।

नाटक तथा प्रस्तुतीकरण में किसी नए रंगमंच आंदोलन के बीज-तत्त्व थे। क्षण उचित था। अत्यधिक विशाल मात्रा में भूख से लोगों के मरने की

विभीषिका जो कि प्रकृति की उच्छृंखला के कारण नहीं बल्कि लालच, भ्रष्टाचार तथा नैतिक मूल्यों के ह्रास के कारण घटित हुई थी, एक इतना दारुण अनुभव था कि उससे क्रोध और प्रतिरोध की भावना का जाग्रत होना स्वाभाविक था। 'नवान्न' ने दोनों ही का संधियोजन किया। प्रतिरोध में पुरातनता की अस्वीकृति अवश्यमेव विवक्षित होती है। प्रतिरोध प्रबल था। नाटक के पात्र ऐसे किसान हैं जो कि गरीबी से पिस गए हैं और मानव रूपी गिद्धों के शिकार हैं। चित्रण प्रत्यक्ष और विशद था। अभिनेता तथा अभिनेत्रियां युवा थे। उनकी अनुभवहीनता वस्तुतः एक सुस्पष्ट लाभजनक बात थी। वे अपनी भूमिका में सहजस्फूर्तता लाए जिससे नाटक की अपेक्षाएं पूरी हुईं। संकल्पित कार्य के बोध को हृदयंगम करके उन्होंने शंभु मित्र के निर्देशन में, जो कि मनोरंजन भट्टाचार्य के साथ-साथ व्यावसायिक रंगमंच से आए थे, परिश्रमपूर्वक प्रशिक्षण प्राप्त किया। 'नवान्न' निर्देशन की दिशा में शंभु मित्र द्वारा किए गए आरंभिकतम प्रयासों में एक प्रयास था। उसके बारे में कवि विष्णु दे ने लिखा कि "इससे पूर्व हमने शंभु मित्र जैसा निर्देशक नहीं देखा था, जिनमें समग्रता संबंधी अंतर्दृष्टि और नैपुण्य है, संपूर्ण प्रस्तुति को एक समझने की दृष्टि है और छोटे-छोटे ब्यौरों को तथा मार्ग की परिसीमाओं को भी उपयोग में लाने की प्रतिभा है।"[1]

विजन भट्टाचार्य ने पूर्वतर एक या दो नाटक लिखे थे, किंतु 'नवान्न' ने उन्हें आत्मविश्वास तथा मान्यता दी। तीस वर्ष से भी पहले लिखे गए इस नाटक को फिर से पढ़ने पर हमें उसकी त्रुटियों का पता चलता है। किंतु हम बंगला नाट्य-साहित्य के संदर्भ में उसकी शक्ति को भी स्वीकार करते हैं। उसकी शक्ति 'नियमों' के अपालन में निहित है, उसके चरित्रों की भावना की सच्चाई में, और ग्रामीणों की भाषा और निर्धनों की बोली के नाटकीय स्पर्श में निहित है। चरित्र-चित्रण में परिभाषा का अभाव है और संरचना में अनुपयुक्तता है। विरोधाभासात्मक रूप से इन्हीं त्रुटियों ने इस नाटक को प्रतिरोध के एक नाटक के रूप में तीक्ष्णता दी। 'नवान्न' ने बंगला नाट्य-साहित्य को दृढ़तापूर्वक सामाजिक वास्तविकता पर आधारित कर उसकी विषयात्मक सीमाओं का विस्तार किया। उसने एक प्रवृत्ति का सूत्रपात किया और दिगिन बंद्योपाध्याय, किरण मैत्र, सलिल सेन, तुलसी लाहिड़ी तथा अन्य युवा तथा पुराने नाटककारों को निर्धन और दलित लोगों की दयनीयता का चित्रण करने वाले नाटक लिखने के लिए प्रेरित किया। 'मानवीय' स्थिति के बजाय 'आर्थिक' स्थिति से अधिक सरोकार रखने के बावजूद उन्होंने बंगला नाटक की सीमाओं का परिवर्धन किया। इनमें से

1 'इंडो सोवियत जर्नल', फरवरी, 22, 1945; 'बहुरूपी' के 34वें अंक में उद्धृत।

अनेक नाटकों में सच्ची अनुभूति और समन्वेषी भावना की छाप है। किंतु कोई भी नाटक बिजन भट्टाचार्य के नाटकों के संवेग और प्रामाणिकता की बराबरी नहीं कर सकता।

बिजन भट्टाचार्य ने बहुत नाटक नहीं लिखे हैं। उन्होंने तीस वर्षों में बीस से भी कम नाटक लिखे हैं। उन वर्षों में बंगला नाटक अनेक दिशाओं में फैला और उसने अनुभव के नए क्षेत्रों का समन्वेषण किया, जिनमें से कुछ सामाजिक-आर्थिक वास्तविकता से हटकर थे। किंतु स्वयं बिजन भट्टाचार्य सामाजिक उत्पीड़न के प्रति अपने सरोकार और शोषण तथा संघर्ष संबंधी अपने प्रतिभासिक मार्क्सवादी विचारों से दूर नहीं हुए। उनके नाटकों को जो बात योजनावत् प्रबंध बनने से बचाती है वह है वह तरीका जिससे वे अपने नाटकीय प्रयोजन के लिए लोक अनुष्ठानों, धार्मिक विधानों और स्थानीय भाषा का उपयोग करते हैं। किसी भी निश्चित संरचनात्मक प्रतिरूप का उपयोग न करते हुए वे अपने नाटकों को ग्रामीण समाज की परिस्थितियों की प्रस्तुति से आकार ग्रहण करने देते हैं जिन्हें वे कुछ अन्य नाटककारों की भांति जानते हैं और जहां वे शोषण तथा संघर्ष को जीवन की एक परिपाटी के रूप में पाते हैं। उदाहरणार्थ, उनके नाटक 'देवी गर्जन', जो कि पश्चिम बंगाल के एक जनजातीय क्षेत्र की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है, की कथा-वस्तु गरीब किसानों के उत्पीड़न से संबद्ध है, जो कि भूमि हड़प जाने वाले व्यापारियों के एक नए वर्ग के प्रादुर्भाव से दारुण हो उठता है। अंतिम दृश्य में भूमिहीन किसानों की एक भीड़ मंदिर के धान-भंडार धर्मगोला के भूमिस्वामी अभिरक्षक प्रभंजन को घेर लेती है।

मंगला : मैं कहती हूं कि धर्मगोला को खोल दो, मंदिर के धान-भंडार को बांट दो।

प्रभंजन : असंभव। यह धर्मद्रोह है। धर्मगोला का धान देवी का है—किसी अन्य का नहीं। पूजा में देवी के सामने उसे चढ़ाने के बाद ही वह प्रसाद के रूप में गरीबों को बांटा जा सकता है...।

दिगंबर : दो वर्ष से हम सूखे और अकाल का सामना कर रहे हैं। हम पूजा नहीं कर पाए और महाप्रसाद नहीं ले पाए, है या नहीं? अब हम पूजा क्यों न करें? हां, आदरणीय पुजारी जी, आपका क्या विचार है?

पुजारी : हूं। सुझाव तो, हूं, अच्छा है। किंतु अभी देवी की पूजा की शुभ ऋतु नहीं है। तुम्हें पंचांग को मानना होगा।

दशरथ : देवी की पूजा के लिए सभी ऋतुएं शुभ हैं—प्रत्येक दिन शुभ है। रघुपति रामचंद्र ने क्या किया? क्या उन्होंने ऋतु के उपयुक्त न

होते हुए भी देवी की पूजा नहीं की ?

पुजारी : भगवान रामचंद्र वैसा कर सकते थे। तुम नहीं कर सकते।

दशरथ : हां, हम कर सकते हैं। धर्मगोला खोल दो।

प्रभंजन : नहीं, मैं नहीं खोलूंगा।

मंगला : खोल दो, मैं कहती हूं।

प्रभंजन : नहीं।

मंगला : खोल दो। आखिरी बार मैं कहती हूं, खोल दो'''।

प्रभंजन : नहीं।

वे आक्रमण कर देते हैं—उथल-पुथल, शोर-गुल—प्रभंजन पीटा जाता है—धान-भंडार के दरवाजे तोड़ दिए जाते हैं।[1]

विजन भट्टाचार्य के नाटकों में अतिशयोक्ति तथा असंगति का दोष है। किंतु उनमें शुद्रता का गुण है, जो कि भूमि को जीवनाधार मानने से उत्पन्न होता है। उनमें जात्रा नाटक की कोई बात नहीं है, फिर भी उनमें लोक जीवन की रंगत है, जो कि अद्वितीय रूप से भारतीय, वस्तुत: क्षेत्रीय, है। इसलिए उनका अच्छा अनुवाद नहीं हो पाता है।

इप्टा की बंगाल इकाई, 'नवान्न' की सफलता को देखते हुए, अपेक्षित समय से पहले ही खंडित हो गई। आगे बढ़ने में उसके असफल रहने का एक कारण यह था कि वह एक ऐसे राजनैतिक दल से संबद्ध था, जो कि नीति-विषयक सिद्धांतों को महत्व देता था। परिणामस्वरूप उसने उन अनेक व्यक्तियों की निष्ठा पर अत्यधिक बोझ डाल दिया जो कि इप्टा के इर्द-गिर्द एकत्र हो गए थे। वे उसे छोड़कर चले गए और कालांतर में उन्होंने अपने स्वयं के समूह बना लिए, जो विभिन्न मात्राओं में स्थिर और सफल रहे। पूरे छठे दशक में और बाद मे ऐसे समूहों की संख्या में वृद्धि हुई और अव्यवसायी समूहों ने, जैसा कि उन्हें कहा जाने लगा था, लोगों का ध्यान नियमित रंगशालाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में आकृष्ट किया। उनके क्रियाकलापों ने उस वस्तु को बढ़ाया जिसे केवल एक आंदोलन कहा जा सकता है। वह नियंत्रित या रेखाचित्रित नहीं था। उसमें आयाम थे, असहमतियां थीं और मतभेद थे। किंतु अपनी समग्रता में वे उत्साह का एक उफान और अग्र-रक्षक प्रयोग का निरूपण करते थे। इस आंदोलन की उपलब्धियां प्रश्नास्पद हैं तथा बंगला रंगमंच के विकास में उसकी भूमिका के बारे में किए गए दावे विवादास्पद हैं। यह सत्य है कि अनेक क्रियाकलाप फेन और बुलबुले सिद्ध हुए। लाभ छिन्न-भिन्न हो गए और विचारों में शीघ्र ही

1. अनुवाद।

समझौता कर लिया गया। अनेक तथाकथित प्रयोग अपरिपक्व तथा निरर्थक थे। किन्तु अव्यवसायी समूहों का कार्य जो परिवर्तन लाया उसकी उपेक्षा करना बेहूदगी होगी। अधिक कुछ नहीं तो उस ऊर्जा ने, जो कि उसने बंगला रंगमंच को दी, बंगला रंगमंच को विभिन्न दिशाओं मे शाखायित होने में सहायता पहुंचाई, जिनमें से कुछ आगे चलकर रंगमंचीय दृष्टि से उत्तेजक सिद्ध हुईं।

नव नाट्य आंदोलन जनता के रंगमंच—जनता के और जनता के लिए अभिप्रेत रंगमंच—की घोषणा के साथ आरंभ हुआ। आर्थिक रूप से शोषित और सामाजिक रूप से उत्पीड़ित लोगों के जीवन के चित्रण पर बल दिया गया था। अभिप्राय की दृष्टि से वह उस वस्तु का निर्माण था जो कि आगे चलकर संक्षेपतः प्रतिबद्ध रंगमंच कहलाया। इप्टा की पत्रिका 'लोकनाट्य' ने बारंबार कहा कि रंगमंच को "युयुत्सु श्रमिकों, किसानों और युवकों के जन संघर्षों का एक भाग होना चाहिए।" उसने आगे यह मांग की कि "जनता के रंगमंच के लिए और जनता के रंगमंच में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह उनके संघर्षों में सक्रिय रूप से भाग ले।" ऐसे प्रबोधनों के कारण अनेक व्यक्तियों ने इप्टा को छोड़ दिया। इप्टा को छोड़ देने या उसकी नीतियों से असहमत होने का अर्थ यह नहीं था कि जिन लोगों ने उसे छोड़ दिया था उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा को या कि रंगमंच के प्रचारात्मक कार्य की उपयुक्तता तथा प्रभावशीलता में अपने विश्वास को त्याग दिया था। अनेक व्यक्तियों ने ऐसा नहीं किया। उनमें से सर्वाधिक ज्ञात व्यक्ति उत्पल दत्त थे।

उत्पल दत्त शक्ति-संपन्न प्रतिभाशाली व्यक्ति थे और रंगमंच से उनका संबंध अंग्रेजी भाषा के रंगमंच के साथ आरंभ हुआ था। उन्होंने अपना आरंभिक प्रशिक्षण ज्योफ़े कॅंडल के 'शेक्सपियरियाना' में पाया था। भारत के विभिन्न भागों में शेक्सपीयर के नाटक प्रस्तुत करने वाली इस दौरा करने वाली कंपनी ने उन्हें उस बात की दीक्षा दी जिसे वे "व्यावसायिक दृष्टिकोण, अनुशासन, अभ्यासों तथा पूर्वाभ्यासों की कठोर नित्यचर्या" कहते हैं। उन्होंने 1947 में 'लिटिल थिएटर ग्रुप' नामक अपनी स्वयं की मंडली बनाई जिसने अंग्रेजी में शेक्सपीयर और शा के कुछ नाटक प्रस्तुत किए। यह एक श्रमनिवारक अनुभव था और एक या दो वर्ष इप्टा में रहने के बाद उत्पल दत्त बंगला रंगमंच में आ गए। उन्होंने सन् 1954 में मिनर्वा थिएटर को किराए पर लिया। 'अन्य रंगमंच' के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी—एक सुदृढ़ गढ़ पर आक्रमण करने और उसे अधिकार में लेने जैसी घटना थी।

वे ग्यारह वर्ष, जिनमें लिटिल थिएटर ग्रुप मिनर्वा का किराएदार रहा, वर्ष थे जिनके दौरान रंगमंच समूह सैकड़ों की संख्या में आविर्भूत हुए और उस वस्तु की, जो कि नया रंगमंच थी या नहीं थी, रूपरेखा धूमिल हो गई, वह बढ़ने,

फैलने, गिरने या नवीकृत होने की कालावधि थी, जो कि इस बात पर निर्भर थी कि कोई व्यक्ति नाट्य आंदोलन की भूमिका और प्रयोजन को किस दृष्टि से देखता था। उत्पल दत्त के लिए वह भूमिका एक राजनैतिक रंगमंच की स्थापना थी और प्रयोजन 'संदेश' का प्रसार करना था। अपने अधिकार में एक नाट्यशाला पाकर उन्होंने निष्ठापूर्वक कार्यारंभ किया। कुछ ऐसी प्रस्तुतियों के बाद जिनमें बहुत कम दर्शक आए थे, उन्होंने यह महसूस किया कि किसी भी प्रकार के उपदेश की पहली शर्त यह थी कि ऐसे लोग एकत्र किए जाएं, जिन्हें उपदेश दिया जा सके, रंगमंच की ओर लोगों को आकृष्ट किया जाए और उन्हें वहां बिठाए रखा जाए। ऐसा करने के लिए, जैसा कि स्वयं उन्होंने कहा था, "रंगमंच के दृश्य गुणों को ऐसी ऊंचाई तक उठाना, जहां रंगमंच स्वयं ही दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दे"[1] और संदेश को उस सम्मोहन के माध्यम से संप्रेषित करना आवश्यक था। कोयलाखदानों के कामगारों और खदानों में होने वाली दुर्घटनाओं पर लिखे गए नाटक 'अंगार' से आरंभ करते हुए उन्होंने विद्युत दीपों, ध्वनियों, संगीत, विशाल रंगपटों, अनेक अभिनेताओं के उपयोग तथा भव्य अभिनय के माध्यम से दर्शकों की संवेदनशीलता पर आक्रमण करते हुए एक के बाद एक अनेक नाटक प्रस्तुत किए और उन्हें 'सम्मोहित' किया। उदाहरणार्थ, सन् 1946 में बम्बई में नौ सैनिकों द्वारा किए गए विद्रोह पर उनके द्वारा लिखे गए एक नाटक 'कल्लोल' के प्रथम दृश्य में रंगमंच पर जो रंगपट (सैट) छाया हुआ था वह था जंगी जहाज 'खैबर' के अगले डैक का रंगपट, जिसकी तोपें विद्रोह के क्रांतिकारी जोश की उद्घोषणा कर रही थीं। विद्रोहियों का नेता शार्दूल सिंह इस जोश का प्रदर्शन प्रखर रूप से करता है। इस नाटक का अंत उसमें अंत तक लड़ते रहने और मारे जाने के आवेशपूर्ण दृश्य के साथ होता है—

शार्दूल : हेलो, धनुष ! हेलो, खैबर बोल रहा है।
रेडियो : हेलो खैबर ! तुमने सुना ?
शार्दूल : नहीं। क्या ? तुम फायरिंग क्यों कर रहे हो ?
रेडियो : हम जीत गए हैं। दोस्तो, हम जीत गए हैं।
शार्दूल : तुम्हारा मतलब क्या है ?
रेडियो : उन्होंने हमारी आठ मांगों में छह मांगें मान ली हैं। तलवार ने अभी-अभी हड़ताल वापस ले ली है।
शार्दूल : और तुम इसे जीत कहते हो ?
रेडियो : दूसरा चारा नहीं था।

1. 'इनेक्ट', अगस्त सितंबर, 1972.

शार्दूल : हम इसके लिए नहीं लड़े थे।

रेडियो : इस संघर्ष में तुमने हमें नेतृत्व दिया है। हमारी बधाई स्वीकार करो, शार्दूल !

शार्दूल : 'दिया है' से तुम्हारा क्या मतलब है ? मैं अभी भी दे रहा हूं। बधाई देने का समय अभी नहीं आया।

रेडियो : क्या तुम्हारा कहना है कि लड़ाई जारी रहेगी ?

शार्दूल : हां।—समर्पण नहीं किया जाएगा।[1]

इस नाटक ने संदेश तो अवश्य संप्रेषित किया किंतु यह कदापि निश्चित नहीं है कि जो लोग 'कल्लोल' और ऐसे नाटकों को देखने भारी संख्या में आते थे और जिनके कारण ये नाटक लंबे समय तक चलते थे, दृश्यों और अभिनय से उत्पन्न रोमांच का अनुभव करने के लिए आते थे या अपनी राजनैतिक चेतना की जाग्रति के लिए आते थे।

राजनैतिक नाटक बंगला रंगमंच के लिए नई बात नहीं थी। डी० एल० राय तथा क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद के देशभक्तिपूर्ण नाटक तथा उससे भी पहले के गिरीश घोष और ज्योतीन्द्रनाथ टैगोर के नाटक राजनैतिक नाटकों के पूर्वज थे। इस शताब्दी के आरंभिक वर्षों से अनेक ऐतिहासिक नाटक सारतः राजनैतिक नाटक थे, जो कि राष्ट्रवाद का उपदेश देते थे। मुकुंद दास ने इसी के लिए अपने प्रसिद्ध जात्रा नाटक का उपयोग किया। आगे चलकर, चौथे दशक में, मन्मथ राय ने समकालीन राजनैतिक तथा सामाजिक स्थितियों पर टिप्पणी करने के लिए रूपकों के रूप में पौराणिक उपाख्यानों का उपयोग किया। उत्पल दत्त तथा अन्य व्यक्तियों ने जो किया वह यह था कि उन्होंने राजनैतिक नाटक को एक अधिक सारन रंगमंचीय काया दी और स्वातंत्र्योत्तर कालावधि में बंगाल में प्रचलित राजनैतिक चिंतन के आमूल परिवर्तनवाद को प्रतिबिंबित करने वाला एक वामपंथी वैचारिक रंग दिया।

उत्पल दत्त ने अनेक नाटक लिखे हैं, जिनमें से अधिकांश ऐसे प्रबंध हैं जिनमें पात्र व्यक्तियों की अपेक्षा प्रवक्ता अधिक हैं और जो एक प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करने के लिए भर्ती किए गए हैं तथा विवादात्मक विषयों को रेखित करने के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। किंतु उनकी प्रस्तुति तथा प्रयोग का कार्य उत्कृष्ट रंगमंचीयता के साथ किया गया है। अनेक वर्षों के अध्ययन और अनुभव के आधार पर उन्होंने ऐसे नाटक प्रस्तुत किए हैं जिन्हें प्रलेखीय नाटक कहा जाता है। यह विधा इसके पूर्व बंगाल में ज्ञात नहीं थी। उन्होंने प्रलेखन का उपयोग,

1. अनुवाद।

मानचित्रों आदि के रूप में किया था किंतु सच्ची प्रलेखीय शैली में उनका सर्व-प्रथम नाटक 'मानुषेर अधिकारे' था। यह नाटक अलबामा में दो श्वेत लड़कियों पर बलात्कार करने के झूठे आरोप पर अनेक नीग्रो युवकों पर चलाए गए मुकदमे पर लिखा गया था। यह नाटक मिनर्वा में प्रस्तुत किए गए उनके सर्वोत्तम नाटकों में से एक था और बंगला रंगमंच पर देखे गए सर्वोत्तम न्यायालय नाटकों में से एक था। उन्होंने कहा है कि यह नाटक लिखने में उन्हें केवल तीन दिन और तीन रात का समय लगा क्योंकि "स्काट्सबरो मुकदमे की न्यायालयीन कार्यवाही के आधार पर मैंने लेख वहीं तैयार कर लिया था।"[1]

उन्होंने इसमें और वियतनाम के लोगों के मुक्ति संग्राम पर लिखे गए नाटक 'अजेय वियतनाम' में इस लेख को आकर्षक युक्तियों से संवारा। वे उसके बिना भी काम चला सकते थे, यह बात उन्होंने सामायिक रुचि के राजनैतिक विषयों पर लिखे गए 'दिन बदलेर पल' या 'बोर्गी ऐलो देशे' जैसे नाटकों में सिद्ध कर दी, जिन्हें उन्होंने बहुधा खुले स्थान में या सड़कों के नुक्कड़ों पर बिना आलंबों या बिना रूप-सज्जा के प्रस्तुत किया। उत्पल दत्त इन्हें अधिक अच्छे प्रलेखीय नाटक मानते हैं, जहां "अभिनेताओं को स्वयं बहुत कम कहना होता है, वे समाचार-पत्रों-पत्रिकाओं और पुस्तकों में लिखी बातें पढ़ते हैं और उस क्षण की परिस्थिति पर रंगशाला के बाहर एक प्रतिवेदन प्रक्षेपित करते हैं।" सड़कों के नुक्कड़ों पर प्रदर्शित इन 'जीते-जागते समाचार-पत्र' या 'इश्तहार' नाटकों में वे अपार भीड़ को आकृष्ट किया करते थे।

उत्पल दत्त आधुनिक बंगला रंगमंच में उन कुछ प्रधान व्यक्तियों में से हैं जो जात्रा की नाटक की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने ऐसे अनेक नाटक लिखे हैं, जो कि अवश्य ही धर्म या पुराण से संबंधित नहीं है, जबकि ये वस्तुएं पारंपरिक जात्रा नाटक की विषय-वस्तु हुआ करती थीं। वे जनता और विद्रोहों से संबद्ध हैं। लोक रूप में इन जात्रा नाटकों के आधारभूत तत्त्व हों या न हों, उन्होंने उनकी कुछ परिपाटियों का उपयोग व्यापक दर्शक वृन्द तक पहुंचने के लिए किया था। ऐसा करने के लिए—जो कि उनका आधारभूत आग्रह है—उन्होंने निःसंदेह अपने नियंत्रणाधीन अन्य साधनों का उपयोग किया है, जिनमें एक अभिनेता के रूप में उनकी पर्याप्त प्रतिभा भी शामिल है। व्यावसायिकता के सच्चे अर्थ में व्यावसायिक उत्पल दत्त ने न तो अभिनय में प्रवीणता के महत्त्व को और न ही एक बहुत दर्शक वर्ग के साथ संपर्क की आवश्यकता के महत्त्व को कम माना है। रंगमंच ('वस्तुतः जीवन से बृहत्तर') के और अभिनय के बारे में उनके सामान्य विचार, कम-से-कम अंशतः, परवर्ती विचार से उत्पन्न हुए हैं। एक अभिनेता के

1. 'इनेक्ट', अगस्त-सितंबर, 1972.

रूप में उनके तकनीकी साधन, जो उन्होंने परिश्रमपूर्ण अध्ययन तथा अविश्रान्त परिश्रम से अर्जित और विकसित किए है, प्रश्नातीत हैं, किंतु वे उनका उपयोग तुलनात्मक रूप से संकीर्ण परिसर में करना पसंद करते हैं। वे इतने प्रतिभाशाली हैं कि वे शैली-वैशिष्ट्य को विकसित नहीं होने देते हैं या स्वयं को बंधे-बंधाए ढंग का अभिनेता नहीं होने देते हैं। किंतु गंभीर हास्यपूर्ण तथा खलतापूर्ण भूमिकाओं के प्रति उनका स्पष्ट उल्लास तथा रुचि देखकर ऐसा लगता है कि वे दोनों ही करने का खतरा उठाते हैं। उनके नाटकों के पात्रों की भांति उनके अभिनय में जटिल द्वयर्थकता के चित्र-विचित्र विन्यास का अभाव है। हो सकता है कि अपना संदेश अधिकतम संभव लोगों तक ले जाने के लिए वे स्वेच्छया ऐसा करते हों।

'लिटिल थिएटर ग्रुप' मिनर्वा थिएटर में अपने रंगारंग तथा कोलाहलकारी अस्तित्व के बाद टूट गया। उत्पल दत्त ने अपना 'पीपुल्स लिटिल थिएटर' गठित किया। वे वामपंथी दलों की कृत्रिम राजनीति से मुक्ति की प्रक्रिया से गुजरे हैं। यद्यपि वे उतने ही 'प्रतिबद्ध' हैं जितने कि पहले थे, तथापि उनकी हाल ही की प्रस्तुतियों ने उनकी पूर्वतर प्रस्तुतियों के कुछ अतिक्रमी तत्त्वों को त्याग दिया है। बहुत दिनों से वह अपने नाटकों के लिए ऐतिहासिक विषयों और कथा-वस्तुओं पर अधिकाधिक निर्भर हैं। स्वयं बंगला रंगमंच के आरंभिक वर्षों पर लिखे गए नाटक 'टिनेर तलवार', हिटलर के उदय के पहले के जर्मनी पर लिखे गए नाटक 'बैरिकेड' और केरेन्स्की शासन तथा बोल्शेविकों पर लिखे गए नाटक 'लेनिन कोथाय' जैसे कुछ नाटक उनके द्वारा प्रस्तुत की गई उत्तम प्रस्तुतियों में से कुछ हैं।

सातवें दशक में अनेक अव्यवसायी समूह तथा नाटककार राजनैतिक रंगमंच में तल्लीन हो गए। कलकत्ता के निर्धन लोगों के दयनीय जीवन और दशक के उत्तरार्द्ध में पश्चिम बंगाल में हुई राजनैतिक उथल-पुथल ने इस तल्लीनता को गहन कर दिया तथापि, कथा-वस्तुएं कलकत्ता या बंगाल की स्थितियों या घटनाओं तक संसीमित नहीं थीं। 'हैतुक' की तलाश में नाटककारों ने क्यूबा, वियतनाम, अफ्रीका—जहां कहीं जन संघर्ष हो रहे थे—की स्थितियों और घटनाओं को लिया। दर्जनों लिखे गए और मंचित किए गए ऐसे नाटकों तथा ऐसी प्रस्तुतियों को बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई। यहां तक कि सुविख्यात जात्रा समूह भी हिटलर, लेनिन तथा हो ची मिन्ह जैसे अ-जात्रावत विषयों पर नाटक प्रस्तुत करने लगे। उनमें से अनेक नाटकों का रंगमंचीय मूल्य संदिग्ध है और लोकप्रियता सार्थक रंगमंचीय मूल्यों को घटाकर प्राप्त की गई थी। उन लोगों में, जिन्होंने खतरे को भांप लिया था और उन मूल्यों को सहेजा और संवारा था, शंभु मित्र विख्यात हैं। युद्धोत्तर काल में बंगला रंगमंच की अभिवृद्धि में

उन्होंने और उनके समूह 'बहुरूपी' ने जो योगदान दिया वह निःसंदेह अत्यंत मूल्यवान हैं।

'नवान्न' की अग्रगामी सफलता का श्रेय जिन प्रधान व्यक्तियों को प्राप्त है उनमें से एक शंभु मित्र थे। दल के आदेशों से तंग आकर अन्य व्यक्तियों की भांति वे इप्टा से अलग हो गए। पांचवें दशक के उत्तरार्द्ध में उत्साहियों का एक दल उनके इर्द-गिर्द एकत्र हो गया और उन्होंने 'बहुरूपी' की स्थापना की। समय उचित था और लोग भी सही थे। वे थे पुराने और युवा, अनुभवी रंगमंच अभिनेता और अनुभवविहीन किशोर। पहला प्रयोग—तब समूह का औपचारिक गठन नहीं हुआ था—'नवान्न' था, जो कि रंगमंच के सामाजिक उत्तरदायित्व के विचार के प्रति उसकी प्रतिबद्धता की एक अभिस्वीकृति थी। तीन परवर्ती प्रस्तुतियों के लिए नाटक का चयन समग्र प्रतिबद्धता की पुष्टि करता था। तुलसी लाहिड़ी द्वारा लिखे गए एक नाटक 'चनेरा तार' में 'नवान्न' की ही भांति अकाल के दारुण विषय को लिया गया था, जबकि अन्य दो नाटकों में प्रवासी समाज के क्षेत्रों का निरूपण किया गया था। प्रस्तुतियों की सुभिन्नता तत्काल प्रकट थी। उनमें एक एकता थीं जो कि सावधानीपूर्ण उपक्रम और नियंत्रण की ओर संकेत करती थी। तथापि, किसी भी संघटक की उपेक्षा नहीं की जाती थी और किसी को भी उसकी अभिहस्तांकित भूमिका से आगे बढ़ने नहीं दिया जाता था। यह बात नहीं है कि उनमें त्रुटियां नहीं थीं। किंतु वे इस कारण कुछ हलचल मचा देते थे क्योंकि उनमें एक नए दृष्टिकोण का आश्वासन था, जो कि लोगों को यह स्मरण कराते हुए कि रंगमंच द्वारा प्रयोजन तब पूरे होते हैं जब सर्वोपरि निष्ठा स्वयं रंगमंच के प्रति हो, एक संतुलन का समाधान करता था। परवर्ती प्रस्तुतियों ने प्रत्याशाओं को अधिक पूरा किया। प्रत्येक प्रस्तुति के साथ ऐसा प्रतीत होता था कि 'बहुरूपी' स्वयं का और रंगमंच का नए सिरे से आविष्कार कर रहा था। यह बात घिसी-पिटी प्रतीत होती है कि रंगमंच एक ऐसी कलात्मक क्रिया का अंतिम उत्पाद है, जो केवल सौंदर्यात्मक दृष्टि से मान्य रंगमंचीय साधनों के उपयोग की मांग करती है। किंतु एक ऐसे समय में, जब बेहिसाब बढ़ते हुए अव्यवसायी समूह आर्थिक वंचना से संबद्ध नाटक—कोई भी नाटक—प्रस्तुत कर रहे थे, इस कथन का प्रत्यक्षण आवश्यक था।

सन् 1951 में 'चार अध्याय' के नाट्य रूपांतरण के साथ, जो कि टैगोर के एक राजनैतिक उपन्यास के निकटतम था, 'बहुरूपी' ने अव्यवसायी रंगमंच में ख्याति की स्थिति दृढ़तापूर्वक प्राप्त कर ली। उसके बाद इब्सन की रचना 'एनिमी ऑफ दि पीपुल' का नाट्य रूपांतरण प्रस्तुत किया गया और दो या तीन प्रदर्शनों के बाद सन् 1954 में टैगोर की रचना 'रक्तकरबी' प्रस्तुत की गई, जो कि बंगला रंगमंच के इतिहास में उपलब्धि की पराकाष्ठा थी। पहली बार,

टैगोर के प्रधान प्रतीकात्मक नाटकों में से एक नाटक को बार-बार स्मृति में आने वाले सौंदर्य से युक्त रंगमंचीय आकृति दी गई। अगले दस वर्षों में 'बहुरूपी' ने टैगोर के और भी पांच नाटक प्रस्तुत किए। इन प्रस्तुतियों ने अपनी प्रक्रिया में टैगोर के नाटकों की प्रतीकात्मकता और काव्य को रंगमंच की अल्पकालिक श्रव्य-दृश्य मर्यादा में प्रतिनिर्मित करने की संभावना संबंधी संदेहों का निवारण कर दिया। काफी हद तक 'बहुरूपी' की इस सफलता के कारण ही, 'रक्तकरबी' की प्रस्तुति के दस वर्ष बाद सन् 1964 में अधिक पेचीदा कृति 'राजा' का चित्ताकर्षक रूप में प्रदर्शन हुआ। टैगोर ने अन्य व्यक्तियों की मानसिक पकड़ को चक्कर में डाल दिया है।

बंगाल में रंगमंचीय समूह सामान्यत: अल्पजीवी रहे हैं। वाणिज्यिक रंगमंच का अभिलेख, जो कि लगभग सौ वर्षों तक शहर की चार या पांच रंगशालाओं तक संसीमित है, निरंतर निर्माण और विभंगों का अभिलेख है। अधिक संख्या वाले अव्यवसायी समूहों ने जिन्हें अवश्य ही अधिक खतरे उठाने पड़े, यदि पूर्ण रूप से विचार किया जाए, बदतर स्थिति का सामना किया। 'बहुरूपी' एक अपवाद रहा। लगभग तीस वर्षों तक उसने अबाध क्रियाशीलता तथा सृजनात्मक प्रयास का परिचय दिया। उसके लगभग चालीस नाटक शास्त्रीय तथा समकालीन नाटकों के बीच, मूल बंगला नाटकों तथा रूपांतरणों या अनुवादों के बीच एक सम-संतुलन प्रदर्शित करते हैं। सभी समान रूप से सफल नहीं हुए हैं। कुछ तो मात्र सक्षम ही थे। किंतु व्यक्तिगत पसंद के हिसाब से उनमें से सर्वोत्तम—'चार अध्याय', 'दशाचक्र' (एनिमी ऑफ दि पीपुल), 'रक्तकरबी', 'पुतुल खेला' (डाल्स हाउस), 'बाकी इतिहास', 'राजा', 'राजा इडिपस', 'अपराजिता'—बंगला रंगमंच के इतिहास में निश्चय ही अत्यंत स्मरणीय नाटकों में से हैं। किसी भी अन्य समूह से अधिक, 'बहुरूपी' ने एक ऐसे रूप के लिए जो कि सुंदर और सत्य हो, और एक ऐसे रंगमंच के लिए जिसकी जड़ें इस धरती में गहराई तक जमी हों और जो समकालीन तथा स्थानीय रंगमंच के परे चला जाता हो, प्रयास करने वाली परंपरा का निर्माण किया है। आरंभ से ही 'बहुरूपी' ने जिस ऊंचाई से कार्यारंभ किया उसमें तकनीकी क्षमता की सुरक्षित नींव डालना अंतर्भूत था। उसने अध्यवसायपूर्वक तथा अनुकरणीय अनुशासन के साथ यह कार्य किया। रंगमंच को एक ऐसा सामूहिक सृजन मानते हुए, जिसमें छोटी-से-छोटी घटना भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती है जितनी कि विरेचक भविष्यवाणी और प्रत्येक अभिनेता प्रथम अभिनेता होता है, वह कठोर परिश्रम तथा धैर्यपूर्ण उपक्रम के कार्यक्रम के प्रति सदस्यों का स्वेच्छापूर्ण समर्पण प्राप्त कर सका। आंदोलन के उद्देश्य में बल का विवर्तन 'लोग' या 'नए' से अधिक आधारभूत 'नाटक' की ओर करते हुए 'बहुरूपी' ने मात्र कैशोर उत्साह

को, जो कि छठे दशक में 'अन्य रंगमंच' की वृद्धि की विशेषता थी, एक श्रेयस्कर दोषनिवारक दिया।

'बहुरूपी' को उसकी सुभिन्न सत्ता प्रदान करने का श्रेय मुख्यत: जिस व्यक्ति को प्राप्त है वे हैं शंभु मित्र, जो कि दिसंबर, 1975 में साठ वर्ष के हुए। वे अपने छात्र-जीवन से ही एक जन्मजात अभिनेता थे और उन्होंने चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में व्यावसायिक रंगमंच में इतिहास का निर्माण किया है। वहां उन्होंने जो समय व्यतीत किया उसने उन्हें अमूल्य अनुभव तथा अपने शिल्प के विकास का अवसर दिया। अधिक महत्त्वपूर्ण तो यह है कि उन्होंने प्रत्यक्षतः यह जाना कि बंगला रंगमंच में क्या दोष था। 'इप्टा' में व्यतीत किए गए वर्षों में भी उन्हें नाट्य आंदोलन की संभावनाओं और सीमाओं को समझने का ऐसा ही अवसर मिला। उन्होंने दोनों अवसरों का भलीभांति उपयोग किया और सही सबक सीखे। इस प्रकार भारतीय रंगमंच का भविष्य कहां है, इसे समझने के लिए उनसे अधिक अच्छी स्थिति में और कोई व्यक्ति नहीं था। व्यावसायिक रंगमंच की कठोर शाला ने एक अभिनेता के रूप में उनकी स्वाभाविक रुझान को साधा-संवारा और उन्हें आधारभूत प्रशिक्षण का मूल्य सिखाया; अनेक देशों के नाट्य साहित्य के उनके सर्वग्राही वाचन तथा परिचय ने उनकी संवेदनाओं को तीक्ष्ण कर दिया था; उनकी सामाजिक जागरूकता ने समाज में रंगमंच के कार्य को स्वरूप दिया था; उत्तम व्यावसायिक अभिनेताओं से संबद्ध होने और उनका निकट से अवलोकन करने के कारण उन्होंने तकनीक के उपयोग और सीमाओं को सीखा और समझा था; उनके विश्लेषणात्मक मन और अनवरत कार्य करने की क्षमता तथा साथ ही अपने सिद्धांतों के बारे में समझौता करने की अस्वीकृति ने उन्हें मार्गदर्शन करने की स्वाभाविक सत्ता दी। इन सभी बातों के अतिरिक्त उनके पास उत्तम शारीरिक गठन था, परिपूर्ण शरीर नियंत्रण-क्षमता थी और विलक्षण आवाज थी—यही कारण है कि वे एक अभिनेता और निदेशक के रूप में अपनी पीढ़ी में अन्य व्यक्तियों से श्रेष्ठ थे।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत तथा रंगमंच के संबंध में विभिन्न मत रखने वाले व्यक्तियों—अभिनेताओं, समीक्षकों, रंगमंच से संबद्ध व्यक्तियों और अन्य व्यक्तियों—ने शंभु मित्र के अभिनय के संबंध में लिखा है। अन्य अनगिनत लोगों ने उनका अभिनय देखा है, भले ही उस पर कुछ लिखा न हो। उनमें से अधिकांश व्यक्ति उत्पल दत्त के इस अभिमत से सहमत होंगे कि भारत में कोई भी अभिनेता शंभु मित्र की बराबरी नहीं कर सकता। बंबई के एक विख्यात युवा अभिनेता अमोल पालेकर को, जो कि बंगला भाषा नहीं जानते, एक लेख में यह कहते हुए उद्धृत किया गया है कि "उन्हें सुनना किसी शास्त्रीय आचार्य को सुनने

जैसा है। हर स्वर उनके नियंत्रण में रहता है।"[1] तथापि, जो बात उन्हें उल्लेखनीय बनाती है वह 'स्वरों पर उनका नियंत्रण' नहीं है, जो कि निःसंदेह उनके पास है, बल्कि विभिन्न प्रकार के जटिल चरित्रों और निर्वचन करने में उनके द्वारा उनका मितव्ययी उपयोग उन्हें उल्लेखनीय बनाता है। अपने नियंत्रणाधीन तकनीकों की पूरी बैटरी रखते हुए वे किसी भी तकनीक का उपयोग उसके संकलनात्मक प्रयोजन से परे नहीं करते। अंततः जो बात महत्त्वपूर्ण है वह है अपनी समग्रता में नाटक। ऐसे भ्रमजनक मितभाषण से वे जो प्राजलता प्राप्त करते हैं वह चरित्रों के उनके व्यापक बोध से उतनी ही आती है जितनी कि नाटक के संपूर्ण अभिकल्प को सदैव मस्तिष्क में लिए रहने से आती है। 'रक्तकरबी' में वे मंच पर केवल आखिरी क्षण में आते हैं और 'राजा' में मंच पर आते ही नहीं। फिर भी अपनी मंच-बाह्य आवाज के जादू मात्र से वे मंच पर छा जाते हैं, जैसा कि दो राजाओं से अभिप्रेत है। अपने सुदीर्घ अभिनय-काल में शंभु मित्र ने सोफोक्लीज, इब्सन तथा टैगोर के नाटकों में विभिन्न प्रकार की नायकोचित भूमिकाएं की हैं। इन प्रस्तुतियों में से प्रत्येक में उन्होंने सत्य के प्रति स्वयं की निष्ठा और मानवीय प्रतिष्ठा के प्रति आदर प्रकट किया है। वे निरूपण या अभिज्ञान के परे जाकर ऐसा करते हैं। अपने अभिनय-काल के आरंभ में ही उन्होंने स्वाभाविकता को छोड़ दिया था। भूमिका में स्वयं को कभी भी न खोते हुए या उसे अपने साथ कभी भी न चलते देते हुए वे निर्वचन को मानो कि अपना स्वयं का भाष्य या अपनी स्वयं की पाद-टिप्पणियां देते हैं। सभी अच्छे अभिनेता न्यूनाधिक मात्रा में यही करते हैं। जीवन की बहुमुखी आंतरिक वास्तविकता को वे जो अर्थ देते हैं और जिस ढंग से वे आभासी रूप से एक अभिनेता के मानव उपकरणों की न्यूनतम सहायता से ऐसा करते हैं वह शंभु मित्र को दूसरों से श्रेष्ठ बना देता है। जब हम उन्हें उन व्यक्तियों की, जिनका रूप वे धारण करते हैं, जटिल अभिप्रेरणाओं और व्यवहार-प्रतिरूपों को उद्घाटित करते हुए देखते हैं तो हमें अपने स्वयं के बारे में कुछ अधिक बोध मिलता है, हमारी संवेदनशीलता का कुछ अधिक परिष्कार होता है।

अपनी प्रस्तुतियों में शंभु मित्र किसी नाटक को रंगमंचीय बनाने वाले विभिन्न तत्वों का उपयोग उसी तरह करते थे जैसे कि कोई वाद्य वृन्द संचालक संगीत-रचनाकार के समग्र 'संगीत' को वाद्यवादकों से निस्सारित करता है। उनमें से उत्तम प्रस्तुतियों ने कलात्मक कृतियों की ऐसी समग्रता प्राप्त की जैसी बंगला रंगमंच पर पूर्वतर ज्ञात नहीं थी। रंगमंच के सौंदर्यात्मक मूल्यों के उच्चतम मानकों से युक्त इन प्रस्तुतियों में तब भी अद्वितीय भारतीयता पाई जाती थी जब नाटक

1. 'दि इलस्ट्रैटेड वीकली आफ इंडिया', 2 मई 1976.

कोई पुराना ग्रीक या यूरोपीय शास्त्रीय नाटक हुआ करता था। स्पष्ट ही है कि यदि 'बहुरूपी' में उत्कृष्ट तथा गुणवत्तापूर्ण व्यक्ति न होते तो शंभु मित्र यह सब नहीं कर पाते या अपने विचारों को उस सीमा तक साकार न कर पाते जिस सीमा तक उन्होंने किया। वे प्रयोग के, मार्गों के खुलने के आरंभिक उत्तेजनापूर्ण वर्ष थे। यदि संभावनाओं को साकार करने में 'बहुरूपी' को अन्य रंगशालाओं की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई तो इसका कारण यह था कि उसमें काफी संख्या में पारंगत तथा होनहार व्यक्ति थे और उनमें होनहार व्यक्तियों को बढ़ाने और उनका उपयोग करने की अच्छी समझ थी। मनोरंजन भट्टाचार्य की संबद्धता विशेषरूप से मूल्यवान थी। उन्होंने स्वयं को नव नाट्य आंदोलन का अभिन्न अंग माना था और वे उसके लक्ष्यों और आदर्शों के सहभागी थे। ऐसा बहुत कम व्यवसायी अभिनेताओं ने किया था। तथापि ऐसा होते हुए भी, जब वे विपथन के लक्षण देखते थे, जैसा कि बहुधा हुआ करता था, वे सौम्य, सचेत करने वाली सलाह दिया करते थे। शंभु मित्र तथा मनोरंजन भट्टाचार्य निःसंदेह 'बहुरूपी' की महानतम विभूति थे। किंतु उसमें तृप्ति मित्र के रूप में अग्रणी अभिनेत्री थीं। खालेद चौधरी के रूप में रंगपट अभिकल्पक थे, तापस सेन प्रकाश व्यवस्था संभालते थे और गंगापद बसु, अमर गांगुली और कुमार राय जैसे प्रवीण अभिनेता थे।

सन् 1950 में 'बहुरूपी' की आरंभिक प्रस्तुति में 'छेंरा तार' में एक मुस्लिम किसान की पत्नी फूलजान की भूमिका में तृप्ति मित्र ने उच्च प्रत्याशाएं जाग्रत कीं। वे प्रत्याशाएं झूठी सिद्ध नहीं हुईं। मात्र गुणवत्ता की दृष्टि से वे पिछले पचीस वर्षों में बेजोड़ रही हैं, जिस कालावधि के दौरान उन्होंने 'बहुरूपी' में किसी भी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्रत्याशाजनक भूमिकाएं की हैं। भूमिकाएं बहुत भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं और वे 'राजा' तथा 'राजा इडिपस' की दो रानियों से लेकर 'अपराजिता' तथा 'चोप, अदालत चलछे' की दो ऐसी स्त्रियों तक की हैं जो कि समाज और पुरुषों के पूर्वाग्रह की शिकार हैं। वे नव नाट्य आंदोलन की एक देन और प्रतिनिधि हैं और इसलिए वे वाणिज्यिक रंगमंच के मिश्रित दर्शक वर्ग को उतना ही मंत्रमुग्ध कर सकती हैं जितना कि उन्होंने तब मंत्रमुग्ध किया था जब वे 'सेतु' में भूमिका करने के लिए 'विश्वरूपा' में सम्मिलित हुई थीं और उसके अभूतपूर्व एक हजार प्रदर्शन हुए थे। 'अपराजिता' में केवल वे ही रंगमंच पर रही हैं और दो घंटे तक अभिनय करती हैं। फिर भी वे दर्शकों का ध्यान एक क्षण के लिए भी भटकने नहीं देतीं। यह उनकी शक्ति का अद्भुत प्रदर्शन है। यदि वे कभी-कभी अपनी अभिनय-भाषा में घिसे-पिटे वाक्यों का सहारा लेती हुई या कतिपय मुहावरों का अति उपयोग करती हुई दिखाई देती हैं तो हमें उन प्रत्याशाओं का स्मरण रखना चाहिए, जो कि उनसे की गई हैं।

तथापि, 'बहुरूपी' की प्रस्तुतियां अभिनेता के रंगमंच से दूरतम रही हैं। वस्तुतः, बंगला रंगमंच का ऐसे रंगमंच के अंधकूप से उद्धार नाट्य आंदोलन का औचित्य तथा पुरस्कार था। अभिनेता तथा नाटककार एक सामूहिक अभिकल्प के, जिसमें रंगपटों, विद्युत-दीपों तथा अन्य तत्त्वों की उनकी अपनी भूमिका थी, मात्र अंशदायी कारक थे—हो सकता है कि वे बहुत महत्त्वपूर्ण रहे हों। 'बहुरूपी' की आरंभिक तथा अत्यंत संतोषजनक प्रस्तुतियों में से कुछ में खालेद चौधरी के रंगपटों तथा तापस सेन की प्रकाश-व्यवस्था का कम महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक योगदान नहीं था। खालेद चौधरी को, जो कि एक उदासीन और एकाकी व्यक्ति हैं, मंच-अभिकल्पन के उनके कार्य के लिए वह मान्यता नहीं मिली है जो कि उन्हें मिलनी चाहिए। प्रस्तुतियों की समग्रता में उनके योगदान को समझने के लिए हमें 'बहुरूपी' में 'पुतुल खेला' तथा 'रक्तकरबी' के लिए या अन्य रंगशालाओं द्वारा प्रस्तुत 'शुतुरमुर्ग' तथा 'कालेर जात्रा' के लिए उनके द्वारा अभिकल्पित रंगपटों तथा दृश्यों और रंगमंच की सज्जा का प्रत्यास्मरण करना होगा।

अपने क्षेत्र में तापस सेन बेमिसाल हैं। वे प्रकाश और छाया संयोजन से रंगमंच पर—या अन्यत्र—कुछ भी कर सकते हैं। वे उसे बढ़ती हुई बाढ़ से भर सकते हैं, किसी रेलगाड़ी को उस पर से गुजार सकते हैं, आग और भूकंपों का भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं, एक-दूसरे के पीछे दौड़ती हुई गाड़ियां दिखा सकते हैं और सैकड़ों अन्य चीजें कर सकते हैं। वे प्रकाश-दीपों के स्विचों के एक की-बोर्ड तथा कुछ अविकसित उपकरणों की सहायता से ऐसा करते हैं। किन्तु तापस सेन चमत्कारपूर्ण दृष्टिक भ्रमों से ही—भले ही वे विविधता तथा आविष्कारशीलता की दृष्टि से आश्चर्यजनक हैं—रंगमंच की प्रकाश-व्यवस्था की संकल्पना में क्रांति नहीं लाए। वे उन्हें एक चित्रकार की दृष्टि से देखते थे और प्रकाश-दीपों का उपयोग तूलिका की तरह करते थे। वे उनका उपयोग दृश्यता के लिए मात्र एक साधन और सहायक के रूप में नहीं करते थे और न किसी नाटकीय क्षण को गहन करने या किसी मनोभाव का निर्माण करने के एक उपकरण के रूप में करते थे, बल्कि नाटक के ताने-बाने तथा अभिकल्प में बुनी जाने वाली नाटकीय सामग्री के रूप में उनका उपयोग करते थे। 'बहुरूपी' के साथ उनकी संबद्धता के दौरान उन्होंने रंगमंचीय प्रकाश-व्यवस्था के एकीकृत कार्य संबंधी अपने विचारों को विकसित किया। उन्हें उन्होंने 'चार अध्याय' तथा 'रक्तकरबी' जैसी प्रस्तुतियों में अत्यंत संतोषजनक परिणामों के साथ क्रियान्वित किया। उत्पल दत्त के लिटिल थिएटर ग्रुप के लिए तापस सेन ने मिनर्वा में उसकी दर्शनीय प्रस्तुतियों की लोकप्रियता में कम योगदान नहीं दिया। वाणिज्यिक रंगमंच में अनेक प्रस्तुतियों की धनार्जक सफलताओं का श्रेय भी अंशतः उन्हें प्राप्त है।

अच्छे नाटकों के अभाव की शिकायत उतनी ही पुरानी है जितना कि स्वयं

बंगला रंगमंच पुराना है। गिरीश घोष इसकी शिकायत किया करते थे। उत्पल दत्त को छोड़, जो कि अल्पकालिक सूचना पर ही रंगमंच के लिए पर्याप्त नाटक लिख सकते हैं और लिखते हैं, अधिकांश रंगमंचीय समूहों की यही शिकायत है। तथापि, लिखे गए नाटकों की संख्या काफी अधिक है। मूल नाटकों को पुरस्कार देने वाले एक संगठन के सन् 1964 के वार्षिक प्रतिवेदन में यह कहा गया है कि पुरस्कार के लिए एक हजार से भी अधिक नाटक प्राप्त हुए थे। सन् 1965 में कलकत्ता की रंगमंचीय गतिविधि का सर्वेक्षण करने वाले एक समीक्षक ने लिखे गए नाटकों की संख्या 736 बताई है। इन आंकड़ों पर संदेह नहीं किया जाना चाहिए और उन्हें सामान्य नाट्य लेखन का निरूपक माना जाना चाहिए। किन्तु इनमें से अधिकांश नाटक मंचन योग्य नहीं हैं। अधिकांश नाटक प्रकाशित नहीं होते—वे प्रकाशन योग्य नहीं होते। उन नाटकों में से, जो प्रकाशित होते हैं—बहुधा रंगमंच पत्रिकाओं में—कुछ नाटक पढ़ने में अच्छे होते हैं। अनेक नाटक नाट्य लेखन शिल्प की पकड़, नाटकीय भाषा की आंतरिक प्रेरणा तथा प्रयोग की आत्मविश्वासपूर्ण भावना दर्शाते हैं। अधिकांश का सरोकार व्यक्ति तथा सामूहिक अस्तित्व की समकालिक समस्याओं से होता है। जो व्यक्ति इन सभी बातों में उत्कृष्ट है, वे हैं बादल सरकार।

बादल सरकार ने कुछ सुखांत नाटक लिखे। उनका यह कार्य पियानो पर अंगुलियां चलाने के अभ्यास जैसा था। उसके बाद उन्होंने काफी समय तक लिखना बंद रखा। जब उन्होंने लिखना फिर से आरंभ किया तो 'एवं इन्द्रजित' की रचना हुई। यह नाटक बंगला के सर्वोत्तम आधुनिक नाटकों में से एक है। जब वह सन् 1965 में पहली बार 'बहुरूपी' की पत्रिका में प्रकाशित हुआ तो उसके रूप की मौलिकता और उसकी विषय-वस्तु की सुसंगति के कारण उसने लोगों को बहुत आकृष्ट किया। सर्वप्रथम 'सौवनिक' ने, जो कि रंगमंचीय समूहों में अधिक प्रसिद्ध था, 'एवं इन्द्रजित' का प्रदर्शन किया—अधिक कल्पनाशीलतापूर्वक नहीं। बाद में यह नाटक कलकत्ता में और अन्यत्र अन्य समूहों द्वारा बंगला में और अन्य भारतीय भाषाओं में प्रस्तुत किया गया। आधुनिक बंगला नाटकों में से इस नाटक का अनुवाद सर्वाधिक हुआ है और संपूर्ण भारत में इसे शिक्षित नागरीय दर्शक वर्ग की अच्छी अनुक्रिया प्राप्त होती है। उनके परवर्ती गंभीर नाटकों की भांति 'एवं इन्द्रजित' में पात्र समाज के एक संकीर्ण वर्ग, मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग जैसा कि वे 'एवं इन्द्रजित' में अपने एक पात्र के माध्यम से कहते हैं, ''मैं उत्पीडित लोगों को नहीं जानता। मैं खेतों में मेहनत करने वाले किसानों, आदिवासी मुखियाओं, मछुआरों को नहीं जानता।'' ''किंतु जिन लोगों को वे जानते है उनका अन्वीक्षण वे इतनी निष्ठा और अंतर्दृष्टिपूर्वक करते हैं कि वे सार्वलौकिक प्रामाणिकता प्राप्त कर लेते हैं। उनका विश्व साधारणता का विश्व है। वे जैसा कि

कहते हैं, "आकारहीन, रंगहीन, सारहीन हैं।" उनमें प्रारूपिक बादल सरकार प्रवक्ता हैं, जो कि विश्व के होते हुए भी उससे कुछ बाहर रहते हैं। उनमें दो विशेषताएं हैं। प्रथमतः, उनमें तीव्र संवेदनीलता और सामाजिक जागरूकता है, जो दर्द, कुसमायोजन और अपराध के बोध से उत्पन्न होती है; द्वितीयतः, उनमें अपने वर्ग से अलग होने की अयोग्यता है, उनमें अपनी दुविधाओं को हल करने की शक्ति और साहस का अभाव है और मानव अस्तित्व की निरर्थकता के प्रति वे संचेतन हैं। उनके माध्यम से नाटककार एक अनैतिक, आत्माहीन समाज में अन्यसंक्रामित मध्यम वर्ग की विकट परिस्थिति का चित्रण करता है। 'एवं इन्द्रजित' में यह स्वर पहले ही दृश्य में सुना जाता है। नाटककार इन्द्रजित से लगातार एक के बाद एक प्रश्न पूछता है जिनमें से आख़िरी है—

नाटककार : तुम्हारी मृत्यु कहां हुई ?
इन्द्रजित : मैं मरा नहीं हूं।
नाटककार : तुम्हें विश्वास है ?
इन्द्रजित : (लंबी स्तब्धता के बाद) नहीं, मुझे विश्वास नहीं है।

अमल, विमल और कमल निष्क्रिय नीरसता और निरर्थक रोजमर्रापन का जीवन जीने वाले लोगों के भावों का प्रदर्शन करते हैं। इन्द्रजित भी यही करता है। फिर भी वह जागरूकता की वेदना से, जीवन में अर्थ और प्रयोजन ढूंढ़ने की कोशिश के दर्द से बच नहीं पाता। अंतिम दृश्य में इन्द्रजित नाटककार से मिलता है—

नाटककार : इन्द्रजित !
इन्द्रजित : आपने क्या कहा ? संभवतः आपसे भूल हुई है। मेरा नाम निर्मल कुमार राय है।
नाटककार : क्या तुम मुझे नहीं पहचानते, इन्द्रजित ?
इन्द्रजित : (रुककर) लेखक ?
नाटककार : इन्द्रजित, मैं अपना नाटक पूरा नहीं कर पा रहा हूं।
इन्द्रजित : आप उसे पूरा क्यों करना चाहते हैं ? जब अंत ही नहीं है तो कोशिश क्यों की जाए ? जब आरंभ ही अंत है और अंत ही आरंभ है ?
नाटककार : फिर भी मुझे लिखना पड़ता है।
इन्द्रजित : हां, आप एक लेखक हैं, आपको लिखना है। मेरे पास कुछ भी नहीं है, मैं निर्मल कुमार हूं।

नाटककार : हां, तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है। भविष्य का कोई विचार नहीं है, घर बनाने का कोई स्वप्न नहीं है, कारोबार शुरू करने की कोई आकांक्षा नहीं है। फिर तुम निर्मल क्योंकर हो सकते हो ?

इन्द्रजित : किंतु मैं एक साधारण व्यक्ति हूं।

नाटककार : फिर भी तुम निर्मल नहीं हो। मैं भी एक साधारण व्यक्ति हूं। फिर भी मैं निर्मल नहीं हूं। हममें से कोई भी निर्मल नहीं बन सकता।

इन्द्रजित : फिर हम जियें किसके सहारे ?

नाटककार : सड़क के सहारे। हम सिर्फ चलेंगे। मेरे पास लिखने के लिए कुछ भी नहीं है, फिर भी मैं लिखता रहूंगा। तुम्हारे पास कहने को कुछ भी नहीं है, फिर भी तुम कहते रहोगे। मानसी के पास जीने के लिए कुछ भी नहीं है, फिर भी वह जीती रहेगी। हम पर सिसिफस का अभिशाप है। हमें पत्थर को पहाड़ पर ले जाना है और उसे नीचे लुढ़कता हुआ देखना है। हम जानते हैं कि पत्थर नीचे लुढ़क आएगा, फिर भी हमें परिश्रम करना है, पसीना बहाना है और उसे ठेलना है। हम जानते हैं कि परिश्रम व्यर्थ है और शिखर निरर्थक है।

इन्द्रजित : फिर भी हमें धकेलना है और शिखर पर पहुंचने की कोशिश करना है ?

नाटककार : हां, कोई आशा नहीं है, क्योंकि भविष्य हमें मालूम है। भविष्य भूत के साथ मिल-जुलकर एक हो गया है। हम जानते हैं कि जो सामने है वही पीछे है।

इन्द्रजित : फिर भी हमें जीते रहना होगा ?

नाटककार : हां, हमें जीते रहना होगा। हमारे लिए अंत में कोई पवित्र देवालय नहीं है। हमारे सामने केवल यात्रा-पथ है जिस पर हमें चलते जाना है।[1]

उनके अन्य नाटकों 'बाकी इतिहास', 'त्रिंघ्श शताब्दी' तथा 'शेष नेई' में दोषबोध भयंकर आकार ग्रहण कर लेता है। 'बाकी इतिहास' में संपूर्ण इतिहास के दौरान मनुष्य के प्रति मनुष्य की अमानवीयता के सहचारी और सामूहिक अपराध के प्रश्न को एक तन्मयतापूर्ण नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'त्रिंघ्श शताब्दी' में इसी प्रश्न का परीक्षण हिरोशिमा के अधिक विशेषीकृत संदर्भ में किया गया है। यह एक शक्तिशाली प्रलेखात्मक नाटक है जो कि एक बंगाली मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की संचेतनता को आधार बनाकर लिखा गया है, जो कि न-

1. अनुवाद।

तो बम को भुला सकता है और न उसे मानवीय अस्तित्व की नई वास्तविकता के एक भाग के रूप में स्वीकार कर सकता है। एक कथावस्तु के रूप में आत्म-हत्या बादल सरकार के नाटकों में बारंबार आती है, किंतु वे अपने अपराधबोध-युक्त, कुसमंजित चरित्रों को आत्म विनाश का हल नहीं देते। हिंदी तथा मराठी नाटकों के एक प्रसिद्ध निर्देशक तथा अभिनेता सत्यदेव दुबे के शब्दों में, "जो बात बादल सरकार को भारतीय नाटककारों में अत्यधिक प्रतिनिधि नाटककार बना देती है वह है उनके चरित्रों की प्रामाणिकता और वह वातावरण जहां से वे आते हैं और साथ ही वह नाटकीय रूप जिसमें वे नई मूलविहीन, नागरीय पीढ़ी के लग-भग सभी प्रधान उद्वेगों, आकांक्षाओं और समस्याओं को समाविष्ट कर लेते हैं और अभिव्यक्त करते हैं।"[1]

बादल सरकार ने अनेक सुखांत नाटक भी लिखे हैं जो कि बंगला नाटक साहित्य के उत्तम नाटकों में से हैं। उनके गंभीर नाटकों में भी वह सुसंस्कृत हास-परिहास है जो कि विजन भट्टाचार्य और मोहित चट्टोपाध्याय तथा मनोज मित्र जैसे महत्वपूर्ण आधुनिक नाटककारों की रचनाओं में नहीं पाया जाता। मोहित चट्टोपाध्याय और मनोज मित्र दोनों ने संस्थागत और शोषक समाज में व्यक्ति की दयनीय स्थिति संबंधी समस्याओं पर विचार किया है। किंतु वे अपने साध्यों के लिए विभिन्न नाटकीय साधनों का अंगीकरण करते हैं। अन्य समकालीन नाटककारों की अपेक्षा अधिक परिमाण में मोहित चट्टोपाध्याय काव्यात्मक तथा प्रतीकात्मक युक्तियों का उपयोग करते हैं। उनके चरित्रों में एक अतिरिक्त वास्तविक आयाम है और वे उन्हें—और नाटक को—चित्रण-वादी भाषा और अतियथार्थ परिस्थितियों के कुशल उपयोग द्वारा तनावों का विकास करने देते हैं। उनका नाटक 'राजरक्त' राजा साहिब और उनके अनुचर (सत्ता के चेहरे) और दो युवा व्यक्ति, एक लड़का और एक लड़की (शिकार) द्वारा गाए गए एक बेतुके पहेलीनुमा गाने से आरंभ होता है। अभिनेता अपनी भूमिकाओं की अदल-बदल करते हैं और राजा साहिब व्यवस्था का प्रतिपादन करने वाले शिक्षक, समनुरूपता की कीमत पर नौकरी और सुख-सुविधा देने वाले सेल्समैन बन जाते हैं। जैसे-जैसे नाटक आगे बढ़ता है वैसे-वैसे पहेली भयानक वास्तविकता के अधिस्वर प्राप्त करती जाती है। राजा साहिब इस लड़के जैसे निराधार व्यक्ति के लगातार प्रतिरोध द्वारा इतने अभिभूत हो जाते हैं कि वे उसको सताने लगते हैं, उसकी खुशामद करते हैं और उसे समझाते-बुझाते हैं। हताश होकर वे नैदानिक परीक्षण के लिए लड़के का रक्त निकालते हैं ताकि विद्रोह के विषाणुओं को पृथक किया जा सके और नष्ट किया जा सके। उन्हें यह

1. 'इनैक्ट', नवंबर 1971.

देखकर दहशत होती है कि कुचले हुए युवक के रक्त-कण बढ़ जाते हैं और उनका पीछा करते हैं।

इसके विपरीत, मनोज मित्र अपने नाटकों को सामाजिक यथार्थता की भूमि में दृढ़ता से रोपित करते हैं। उनका नाटक 'चार भांगा मधु' एक शक्तिशाली, उत्तेजक नाटक है और संकेतात्मकता तथा नाटकीय संघर्ष से परिपूर्ण है। यह नाटक ग्रामीण बंगाल की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। इसकी कहानी संपेरों की जाति के एक ओझा के नैतिक धर्म-संकट से संबद्ध है कि सांप द्वारा डसे गए निर्दयी और दुराचारी साहूकार को बचा ले या मर जाने दे और गांव को साहूकार रूपी अभिशाप से मुक्त कर दे। एक होनहार समूह 'थिएटर वर्कशाप' ने अपनी उत्कृष्ट प्रस्तुतियों 'चाक भांगा मधु' तथा 'राजरक्त' द्वारा प्रत्याशाओं को बढ़ा दिया—जो कि दुर्भाग्यवश पूरी नहीं हुई। कुछ अन्य नाटककारों की भांति इन दोनों नाटककारों को ऐसे निर्देशक तथा समूह नहीं मिले हैं जो उनके नाटकों से कल्पनाशील रंगमंच का निर्माण कर सकें।

तथापि, नाट्य लेखन के परिमाण में पर्याप्त वृद्धि और कुछ महत्वपूर्ण नाटककारों के कार्य के बावजूद अच्छे मंचनीय नाटकों की पूर्ति मांग से कम है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अनुवादों और रूपांतरणों पर अधिक निर्भर क्यों रहा जाने लगा है। पिछले पचीस वर्षों या लगभग इतने ही समय के दौरान अनेक बड़े और छोटे नाटककारों की कृतियों के बंगला में अनुवाद या रूपांतरण किए गए हैं और अनेक नाटक प्रदर्शित किए गए हैं। उत्पल दत्त के 'लिटिल थिएटर ग्रुप' की एक आरंभिकतम प्रस्तुति गोर्की की रचना 'लोअर डेप्थ्स' थी। 'बहुरूपी' की प्रस्तुतियों में सोफोक्लीज, चेखव, इब्सन और आयोनेस्को के नाटक शामिल हैं। अन्य समूहों ने विभिन्न प्रकार के नाटककारों की कृतियों को चुना जिनमें से शेक्सपीयर, गोगोल, इब्सन, चेखव, स्ट्रिंडबर्ग, शा, पिरान्देलो, सिंज, आयोनेस्को, सार्त्र, अनाउइल्ह, प्रीस्टले, ओ' नील, अल्बी, ड्यूरेनमाट, बेकेट तथा ब्रेख्त कुछ उल्लेखनीय रचनाकार हैं। अजितेश बंद्योपाध्याय के 'नांदिकर' ने विदेशी नाटकों का जितना सहारा लिया उतना किसी भी अन्य समूह ने नहीं लिया। वस्तुतः इस महत्वपूर्ण समूह की ख्याति मुख्यतः पिरान्देलो, चेखव, वेस्कर तथा ब्रेख्त के नाटकों के सफल रूपांतरणों की उसकी प्रस्तुति पर निर्भर है।

उत्पल दत्त के 'लिटिल थिएटर ग्रुप' को छोड़, 'नांदिकार' वह एकमात्र समूह है जो प्रगतिशील रंगमंच के प्रति निष्ठा रखता है। इसने उत्तर कलकत्ता में वाणिज्यिक रंगमंच की बस्ती में एक नाट्यशाला किराए पर ली जहाँ सातवें दशक के आरंभिक वर्षों में एक नई रंगशाला 'रंगना' का निर्माण किया गया। 'नांदिकार' को उसे कुछ वर्षों बाद छोड़ देना पड़ा, भले ही ब्रेख्त के नाटकों की उसकी दो प्रस्तुतियां लंबे समय तक चलीं। अजितेश बंद्योपाध्याय प्रथम श्रेणी के

अभिनेता और निर्देशक हैं। उनके पास अच्छे अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का एक दल भी है। किन्तु 'रंगना' में 'नांदिकार' को और मिनर्वा में 'लिटिल थिएटर ग्रुप' को जो अनुभव प्राप्त हुआ वह इस सामान्य बोध की पुष्टि करता है कि आधुनिक तथा अग्ररक्षक विचारों को मानने वाला रंगमंच अपनी स्थिति से गंभीरतापूर्वक समझौता किए बिना वाणिज्यिक रंगमंच से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। उत्तरजीवी रहने के लिए उसे एकाधिक अर्थ में ढर्रे से अलग रहना पड़ता है। छठे दशक के मध्य में हुआ वाणिज्यिक रंगमंच का पुनरुत्थान अल्प-संख्यक रंगमंच के लिए यह स्पष्ट सबक देता है।

15

समकालीन वाणिज्यिक रंगमंच

विभाजनोत्तर काल में पूर्व पाकिस्तान से विस्थापित व्यक्ति समय-समय पर आए और उन्होंने यथासंभव कलकत्ता में या उसके आसपास बसना पसंद किया। आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों से लोगों का सामान्य अंत:प्रवाह परिमाण में बढ़ता गया। अनेक कारणों से शहर इन लोगों को समाविष्ट करने के लिए असमर्थ था तथा बढ़ने और पर्याप्तत: परिवर्तित होने की स्थिति में नहीं था। परिणामस्वरूप कलकत्ता विश्व के संकुलतम शहरों में से एक शहर बन गया।

नागरिक जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण सस्ता मनोरंजन प्रदान करने वाली संस्थाओं की टिकट-बिक्री बढ़ गई। इनमें सिनेमा प्रधान लाभग्राही था। रंगमंच को पहले-पहल कोई तुलनीय या समवर्ती लाभ प्राप्त नहीं हुआ। अंशत: इसका कारण टिकटों की कीमतों का ऊंचा होना और अंशत: जीर्णशीर्ण नाट्य-शालाओं में घटिया प्रदर्शनों का किया जाना था। अभ्यस्त दर्शकों की निष्ठा के 'अन्य रंगमंच' के प्रति विवर्तित हो जाने के कारण भी ऐसा हुआ था। रंगशाला के मालिकों को जागने के लिए और खोए हुए प्रश्रय को फिर से पाने के लिए कुछ समय लगा। 'स्टार थिएटर' सिनेमा स्टारों की आविर्भावी नस्ल की लोकप्रियता से लाभ उठाने वाली पहली रंगशाला थी। उसने अन्य व्यक्तियों के साथ-साथ बंगला सिनेमा के सुप्रसिद्ध अभिनेता उत्तम कुमार और एक उत्कृष्ट अभिनेत्री सावित्री चटर्जी को नियोजित किया। उसने एक गूंगी और बहरी लड़की पर लिखा गया एक भावात्मक नाटक 'श्यामली' प्रस्तुत किया। लोग अपने प्रिय चलचित्र-अभिनेताओं को प्रत्यक्ष रूप में देखने के लिए उमड़ पड़े और वाणिज्यिक रंगमंच उभरने लगा। 'श्यामली' ने स्टार को इतना धन दिया कि वह अपनी रंगशाला को नया रूप और अपनी सनातनी मूलप्रवृत्तियों को सहारा दे सका। 'रंगमहल' ने, कुछ-कुछ कम सफलतापूर्वक, उसका अनुकरण किया। चलचित्र-अभिनेता अधिक नहीं थे और उन कुछ अभिनेताओं ने, जिन्होंने रंगमंच पर कार्य करना स्वीकार किया था, उसे शीघ्र छोड़ दिया। स्वामित्व संबंधी विवादों में उलझ जाने के कारण 'मिनर्वा' आजमाइश करने की स्थिति में नहीं था और उसने उत्पल दत्त के 'लिटिल थिएटर ग्रुप' (एल० टी० जी०) को नियंत्रण सौंप दिया। दर्शकों के संघटन तथा

अधिमान में हुए परिवर्तनों का सर्वाधिक लाभ उठाने वाली रंगशाला 'विश्वरूपा' थी (शिशिर भादुड़ी के 'श्रीरंगम्' को नए मालिक ने यह नाम दिया था)। एक या दो पारंपरिक नाटकों के बाद नए स्वामियों ने विधायक भट्टाचार्य का एक नया नाटक लिया जिसका नाम था 'क्षुधा'। उसमें सामाजिक यथार्थवाद का कुछ दंभ था और वह 570 रात चला। यह सफलता नए रंगमंचीय विचारों में ज्वार से लाभ उठाने की मालिकों की चतुराई की द्योतक है। संभावनाओं का अधिक अच्छी तरह लाभ उठाने के लिए 'विश्वरूपा' ने अपने नए नाटक 'सेतु' के लिए तृप्ति मित्र तथा तापस सेन की सेवाएं प्राप्त कीं। यह नाटक अक्तूबर, 1959 में आरंभ हुआ और निरंतर एक हजार रात चलने के बाद अप्रैल, 1964 में वह बंद कर दिया गया। यदि 'विश्वरूपा' ने जनता के प्रश्रय का अधिकांश प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की तो अन्य वाणिज्यिक रंगशालाएं भी अधिक पीछे नहीं रहीं। 'स्टार' तथा 'रंगमहल' में प्रदर्शित अधिकांश नाटक दो सौ या अधिक रातों तक चले और उनसे अच्छी आमदनी हुई। यह निस्संदेह, अव्यवसायी समूहों के कार्य द्वारा पैदा हुई रुचि के पुनरुत्थान के कारण सहज हो सका था। किंतु छठे दशक के उत्तरार्द्ध से वाणिज्यिक रंगशाला को जो लोकप्रियता प्राप्त होती रही, वह बढ़ी हुई नागरिक जनसंख्या तथा उसकी जरूरत की पूर्ति के लिए नियमित रंग-शालाओं की नितांत कमी के कारण थी। बंगला व्यावसायिक रंगमंच के जीवन के लगभग सौ वर्षों में से लगभग अस्सी वर्षों तक केवल चार या पांच रंगशालाएं रही हैं, यद्यपि उन आठ दशकों के दौरान जनसंख्या तथा नाटक देखने वाले लोगों की संख्या अनेक गुनी बढ़ गई थी। जादवपुर विश्वविद्यालय द्वारा कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित बंगला रंगमंच संबंधी एक उत्कृष्ट निबंध[1] में शहर की पचास नाट्यशालाओं की सूची है। तथापि यह सूची उन प्रेक्षागृहों की सूची है जिनमें पिछले एक सौ पचास वर्षों के दौरान कभी-न-कभी नाटक प्रदर्शित हुए थे। वह यह दर्शाती है कि कलकत्ता में नियमित रंगशालाएं सात या आठ से अधिक कभी भी नहीं रहीं।

किसी वृहत् और विविधतापूर्ण दर्शक-समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली रंगशाला को अवश्य ही मनोरंजन प्रदान करना पड़ता है। लगभग अपरिहार्य रूप से 'मनोरंजन' का तत्व रंगशाला को घटिया दर्शकों की पसंदगी की ओर ले जाता है, जो कि उस काल की परिस्थितियों को देखते हुए पलायनवाद था। ऐसे अधिमान की अनुक्रिया करते हुए वाणिज्यिक रंगमंच ने सामाजिक सोद्देश्य के अपने पूर्वतर दंभ को त्यागने में देर नहीं की और सैक्स, गुदगुदाहट और अश्लीलता की अमौलिक पसंद को पलायनवादी मनोरंजन का

1. स्वप्न मजूमदार द्वारा लिखित 'बिलाती जात्रा थेके स्वदेशी थिएटर'।

नुस्खा बना लिया। इसमें भी 'विश्वरूपा' अन्य रंगशालाओं से एक कदम आगे बढ़ गई और उसने 'चौरंगी' नामक नाटक प्रदर्शित किया, जो कि लोगों की लम्पटता से लाभ उठाने वाला एक भयानक नाटक था। इस नाटक से बेहद आमदनी हुई। अन्य रंगशालाओं ने भी इसका अनुकरण किया, किंतु सौभाग्य-वश वाणिज्यिक रंगमंच का सबसे पुराना स्तंभ 'स्टार' सैक्स से लाभ उठाने के लोभ का संवरण किए रहा। वह पुरानी परिपाटी का बना रहा और पुरानी शैली के नाटककार देवनारायण गुप्त द्वारा लिखित पारंपरिक नाटकों पर विश्वास करता रहा। उनके नाटक तथा 'स्टार' में किए गए प्रदर्शन भले ही सीधे पुराने समय के बंगला रंगमंच से आए हुए प्रतीत होते हैं, फिर भी उनमें कम-से-कम शिष्टता का गुण तो है ही। अन्य रंगशालाओं ने—जिनमें से कुछ रंगशालाएं पूर्वतर प्रगति-शील रंगमंच से संबद्ध थीं—नई बंगाली शैली की अनुज्ञाशीलता से लाभ उठाने की कोशिश की। यह तथ्य विस्मयकर है कि जिस समूह ने ऐसा अत्यधिक सफलतापूर्वक किया था वह एक ऐसा समूह था जिसने आर्थर मिलर के नाटक 'डेथ आफ ए सेल्समैन' के बंगला संस्करण का मंचन कर ख्याति प्राप्त की थी। उसने एक नई नाट्यशाला किराए पर ली और एक सुविख्यात उपन्यासकार की एक कथा के नाट्य रूपांतरण 'वारवधु' का प्रदर्शन किया। एक दुराचारी व्यक्ति एक वेश्या को अपनी पत्नी का अभिनय करने और छुट्टी में साथ रहने के लिए किराए पर लेता है। अभिनय करने वाली वेश्या को उससे प्रेम हो जाता है किंतु छुट्टी समाप्त होने के बाद उसे त्याग दिया जाता है। प्रस्तुतीकरण साफ-सुथरा है और दो मुख्य पात्र अभिनय अच्छा करते हैं। किंतु यह समझा जाता है कि इस नाटक की दृश्य-सफलता उसकी शयन-कक्ष की गुदगुदानेवाली झलकियों के कारण थी। 'वारवधु' को लेकर इस समूह ने इतिहास का निर्माण किया। बंगला रंगमंच के इतिहास में यह नाटक सबसे अधिक चला। इसके 1700 से भी अधिक लगा-तार प्रदर्शन हुए।

सातवें दशक के दौरान कुछ रंगशालाओं का और अंतिम तीन या चार वर्षों में अन्य रंगशालाओं का निर्माण हुआ। किंतु रंगशालाओं की विकट कमी बनी ही हुई है। वास्तविक और सम्मान्य दर्शक-वर्ग अत्यधिक बढ़ गया है और इसी प्रकार प्रायोगिक 'अग्र-रक्षक' नाटकों के लिए संघर्षरत छोटे-छोटे समूहों की संख्या भी बढ़ी है। उन्हें काम-चलाऊ प्रबंधों से काम चलाना पड़ता है और कभी-कभार होने वाले प्रदर्शनों से संतोष कर लेना पड़ता है। बढ़ते हुए व्यय ने उनकी कठिनाइयां बढ़ा दी हैं और उनमें से अनेक टूट जाते हैं या निष्क्रिय हो जाते हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि जिन लोगों ने अपनी प्रतिभा और निष्ठा से नाट्य आंदोलन के लिए नेतृत्व तथा व्यापक स्वीकृति की स्थिति अर्जित की उन लोगों में अपनी शक्ति के एक भाग का उपयोग अनेक छोटी-छोटी साधारण रंगशालाओं

के निर्माण की दिशा में करने की दूरदृष्टि नहीं थी, जिनमें ढर्रे से बाहर के नाटकों को आजमाया जा सकता। न ही उनमें एक ऐसी परिस्थिति का मिलजुल कर निराकरण करने की इच्छुकता और योग्यता थी जो कि उनके अस्तित्व को आशंकित कर रही थी। दक्षिण कलकत्ता में दो छोटी रंगशालाएं चला रहे दो समूहों के प्रशंसनीय उपक्रमों से यह प्रकट होता है कि छठे दशक के उत्तरार्द्ध में वे ऐसा करने की स्थिति में थे। उनमें से एक, 'थिएटर सेंटर' अधिकांशत: नाटककार-अभिनेता तरुण राय के नाटकों का प्रदर्शन करता है। अनेक सक्षम, सुलिखित नाटकों के लेखक तरुण राय ने उस पाठ का, जिसे अल्पसंख्यक रंगशाला के अनेक समूह भुला देते हैं, अर्थात् इस बात का कि अंतरंग रंगमंच अव्यवसायीवत्, शिष्टाचारानुरूप प्रयोगों का समानार्थी नहीं है, निरंतर प्रदर्शन कर मूल्यवान सेवा की। अन्य रंगशाला 'मुक्त आंगन' ने वस्तुत: अभी-अभी तक एक ऐसी एकमात्र रंगशाला के रूप में कार्य किया है, जहाँ कम ज्ञात समूहों को एक सुविज्ञ दर्शक-वर्ग के सम्मुख अपने प्रदर्शनों को आजमाने का अवसर मिला।

'थिएटर सेंटर' तथा 'मुक्त आंगन' द्वारा की गई पहल का अनुकरण नहीं किया गया और अवसर हाथ से निकल गया। भवन-निर्माण-व्यय और अन्य व्ययों की जो स्थिति है उसे देखते हुए रंगशालाओं की कमी निकट भविष्य में दूर होने की संभावना नहीं है। छोटे, निष्ठावान समूहों के लिए स्थिति काफी गंभीर है। कुछ उपलब्ध रंगमंचों का किराया अत्यधिक निषेधक हो गया है। यह एक चिंता का विषय होना चाहिए क्योंकि उनसे ही यह आशा की जा सकती है कि बंगला रंगमंच नई भूमि का उपयोग करेगा और नई रीतियों का समन्वेषण करेगा। 'अन्य रगमंच' के लिए वर्तमान परिस्थिति इतनी संकटमय है कि बादल सरकार प्रेक्षागृहों से बाहर निकलने और मंचित प्रस्तुतियों के संपूर्ण तामझाम को छोड़ देने का सुझाव देते हैं। उनके अनुसार संकट अर्थशास्त्र का विषय उतना नहीं है जितना कि सौंदर्यशास्त्र का। उनका विचार है कि रंगमंच अपने नियंत्रणाधीन पारंपरिक उपयोगों को लगभग निःशेषित कर चुका है और उसे अभिव्यक्ति के ऐसे नए मार्गों की खोज करनी होगी जो उस चीज के परे जाते हों जिसे अब तक नाटक या रंगमंच में जायज माना जाता रहा है। 'एरीना थिएटर' (या थिएटर इन दि राउंड) के प्रतिपादक के रूप में उन्होंने अपने कुछ विचारों को व्यावहारिक रूप दिया है। उनका स्वयं का समूह 'शताब्दी' खुले भूखंड में प्रदर्शन करता है। बादल सरकार के और वीर सेन के 'सिलहाउट' के तत्कालीन उपक्रम की अभिप्रेरणा उत्पल दत्त के सड़क के कोने के नाटकों से भिन्न है। वे नई रंगमंचीय प्रणालियों और संकल्पनाओं वाले ऐसे प्रयोग हैं जो परिपाटियों के संपूर्ण समुच्चय को अस्वीकार कर देते हैं, जिनमें वे परिपाटियां भी शामिल हैं जो पूर्वतर पीढ़ी के नव नाट्य आंदोलन के नवाचारों से निर्मित

हुई थीं।

आलंब-रहित 'एरीना थिएटर' की वकालत करते हुए बादल सरकार सावधानी पूर्वक यह कहते हैं कि वे जात्रा नाटक से पुनः संबंध स्थापित करने या उसकी ओर लौटने का तर्क प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। स्वयं जात्रा नाटक में उन परंपराओं का बहुत कम भाग बच रहा है। वस्तुतः उसमें जो रूपांतरण हुआ है वह उतना ही विस्मयजनक है जितनी विस्मयजनक पिछले लगभग पचीस वर्षों में उसकी लोकप्रियता रही है। रंगशाला की तुलना में जात्रा मंडलियां—जो कि स्वयं को 'कंपनी' या 'आपेरा' कहती हैं—लगभग बड़े कारोबार के पैमाने पर काम करती हैं। वे अपने मुख्य अभिनेताओं को इतनी रकम देती हैं जिसकी कलकत्ता की वाणिज्यिक रंगशालाएं कल्पना भी नहीं कर सकतीं। कलकत्ता में सुसंगठित कार्यालय रखकर ये जात्रा मंडलियां पश्चिम बंगाल, बिहार और असम के औद्योगिक तथा बागान क्षेत्रों के नगरों में वर्ष में आठ महीने विशाल दर्शक समूह के सम्मुख नाटक प्रदर्शित करती हैं। कलकत्ता में और उसके आसपास जात्रा नाटक कम आकर्षक नहीं होते। सामाजिक परिवर्तनों की अनुक्रिया करने वाले, विशाल दर्शक वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले और अनेक प्रभावों से प्रभावित जात्रा नाटक अपने वर्तमान रूप तथा विषय-वस्तु की दृष्टि से वह संगीतमय-धार्मिक लोक रंगमंच नहीं है जो कि वह हुआ करता था। उसने अनेक परिपाटियों को छोड़ दिया है और रंगमंच से कुछ परिपाटियां ले ली हैं। अपनी ओर से उसने रंगमंच को विभिन्न प्रकट और अप्रकट रीतियों से प्रभावित किया है। वस्तुतः उसका प्रभाव सदैव रहा है और रंगमंच ने सचेतन या अचेतन रूप से जात्रा नाटक के तत्वों को लिया है और कालांतर में अपने स्वयं के विकासशील रूप का एक भाग बना लिया है।

संगीतनाटकीय संगीत एक ऐसा ही तत्व है। गिरीश घोष ने एक बार कहा था कि गीतों और नृत्यों के न होने पर लोग नाटक देखने नहीं आते। उनके अधिकांश नाटकों में गीतों और नृत्यों का सिलसिला पाया जाता है। उनकी पीढ़ी के और आगामी पीढ़ियों के नाटककारों के नाटकों में भी कम या अधिक रूप में यही बात पाई जाती है। निस्संदेह, गीत टैगोर के नाटकों के अभिन्न अंग हैं। उस समय का कोई भी प्रस्तुतकर्त्ता गीतों और नृत्यों के बिना कोई भी नाटक साधारणतः प्रस्तुत नहीं किया करता था। शिशिर भादुड़ी को भी अपने नाटकों में इनकी गुंजाइश रखनी पड़ी थी। अधिकांशतः ये उपदेशात्मक थे किंतु जनता उन्हें वैसा नहीं समझती थी। इसके विपरीत उन्हें रंगमंच के लिए उतना ही आवश्यक माना जाता था जितना कि जात्रा नाटकों के लिए, यद्यपि रंगमंच में वे 'क्रियाशील' नहीं थे। नव नाट्य आंदोलन इस अभिवृत्ति में परिवर्तन लाया। गीतों और नाटकों का उपयोग आवश्यक होने पर ही किया जाता था, अन्यथा नहीं।

पार्श्वसंगीत तथा लाउडस्पीकर प्रणाली के जरिए ध्वनि के संप्रेषण की संभावना गीतों द्वारा उत्पन्न बाधा की समाप्ति की प्रक्रिया में सहायक हुई। तथापि युद्धोत्तर दशकों में जात्रा नाटक के पुनरुत्थान तथा उसकी लोकप्रियता से यह प्रकट होता है कि संगीतनाटकीय संगीत का आकर्षण समाप्त नहीं हुआ था।

हाल ही में इस आकर्षण को विभिन्न प्रकार से योजनाबद्ध किया गया है। सीधे-सीधे संगीत नाटक उनमें से एक नहीं हैं। किंतु पौराणिक लोक-गायकों पर लिखे गए नाटक, जिनमें गीतों का होना आवश्यक है, एक वाणिज्यिक रंगशाला द्वारा सफलतापूर्वक प्रदर्शित किए गए हैं। उन समूहों के लिए, जो स्वयं को 'अन्य रंगमंच' का बताते हैं किंतु जो संगीतनाटकीय संगीत के आकर्षण से लाभ उठाना चाहते थे, ब्रेख्त के नाटक बड़े सहायक हुए हैं। हम देखते हैं कि ब्रेख्त के नाटकों के रूपांतरणों की लोकप्रियता वस्तुतः उल्लेखनीय है। संदेह किया जाता है कि उनकी लोकप्रियता उनके वामपंथी संदेश के कारण उतनी नहीं है जितनी कि गीतों और संगीत के कारण। अनेक मूल नाटक लिखे गए हैं और मंचित किए गए हैं। 'मारीच संवाद' इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण है जिसमें बंगला लोक धुनों का उत्कृष्टतापूर्वक उपयोग किया गया है। अभिरुचि का पुनरुत्थान तथा रंगमंचीय साध्यों के लिए संगीत का सार्थक उपयोग एक अधुनातन प्रवृत्ति है। संभवतः इसका प्रादुर्भाव इस व्यग्रता की अनुक्रिया में हुआ है कि नाट्य आंदोलन के पूर्वतर गुणों में गिरावट आ गई है और नए संवेगों की आवश्यकता है।

आज बंगला रंगमंच के सामने वह स्थिति है जिसे आसन्न पतन का संकेत कहा जा सकता है। स्थापित समूह, जिन्होंने आगे बढ़कर नेतृत्व किया था, थके-हारे और विचारों तथा प्रेरणा से विहीन प्रतीत होते हैं। नए समूहों के लिए जीवित रहना कठिन हो गया है। वाणिज्यिक रंगमंच तथा 'कार्यालयीन क्लब' (कलकत्ता के लगभग सभी शासकीय कार्यालयों और वाणिज्यिक स्थापनाओं के अपने-अपने क्लब हैं) लोक प्रश्रय का बड़ा हिस्सा पा लेते हैं। सन् 1975 और 1976 में देश में 'आपातकाल' के दौरान, जब कड़ी सेंसर लागू की गई थी, स्थापित व्यवस्था और तत्कालीन शासन की आलोचना करने वाले नाटकों को दबा दिया जाने के कारण, अल्पसंख्यक रंगमंच का झंडा ऊंचा उठाए रखने के लिए संघर्षरत अनेक समूह निष्क्रिय हो गए। अंततः, लोगों की अभिरुचि भद्दी होती जा रही है।

ऐसा लगता है कि बंगला रंगमंच पुनः गिरावट के दौर में प्रवेश कर रहा है। तथापि, लक्षण उन लक्षणों से भिन्न हैं जो पूर्वतर ऐसी ही प्रावस्थाओं में दिखाई दिए थे। परिस्थिति ऐसी है। प्रश्रय का अभाव नहीं है। लोग रंगमंच से वैसे विमुख नहीं हुए हैं जैसे पहले हुए थे। यदि रंगमंच-पत्रिकाओं की गुणवत्ता और चर्चाओं तथा वाद-विवादों को मार्गदर्शक मान लिया जाए तो रंगमंच में लोगों

की व्यापक रुचि है। अनुवादों के माध्यम से या अन्यथा नाटकों के चयन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। विचारों और जानकारी के आदान-प्रदान की सुविधाएं बहुत बढ़ गई हैं। अब उनमें भारत के अन्य भाषायी क्षेत्रों के नाटक और रंगमंच शामिल हैं। यह एक स्वागतयोग्य विकास है। अन्य भारतीय भाषाओं और केंद्रों के महत्वपूर्ण कार्य का अज्ञान अंशतः दूर हो गया है। उन केंद्रों से और विदेशों से कलकत्ता में नाटक मंडलियां बारंबार आती हैं। इसलिए प्रति-उर्वरण की संभावना बढ़ गई है। इससे अच्छा परिणाम होगा और अच्छी प्रगति होगी।

तथापि, गलत धारणाएं विद्यमान हैं। साधारणतः स्वस्थ वृद्धि के काल में 'कला' तथा 'वाणिज्यिक' रंगमंच के बीच का विभेद कम होना चाहिए, न कि अधिक सार्थक। बंगला रंगमंच में यह खाई बढ़ गई है और ऐसा प्रतीत होता है कि अल्पसंख्यक रंगमंच पराभूत हो रहा है। सबसे बुरी बात तो यह है कि वह अपना उत्साह खो चुका प्रतीत होता है और उसे संघर्ष करना पड़ेगा। ऐसा लगता है कि उसने अपना दिशा-बोध खो दिया है।

बारीकी से विचार करने पर हम पाते हैं कि बंगला रंगमंच ने उन कालावधियों में, जब कलात्मक तथा सामाजिक क्षेत्रों में उथल-पुथल हुई थी, महत्वपूर्ण कार्य किए। गिरीश घोष और उनके साथ बंगला रंगमंच का प्रादुर्भाव साहित्य, चित्रकला और अन्य कलाओं की विपुल सृजनात्मकता के काल में हुआ। शिशिर भादुड़ी तब आए जब सृजनात्मक गतिविधि का एक अन्य विस्फोट हुआ। अनेक कवियों और लेखकों ने ऐसे समय में ख्याति अर्जित की जब शिशिर भादुड़ी रंगमंच पर छाए हुए थे। इसी समय उदय शंकर ने कलकत्ता में अपना प्रथम नृत्य-प्रदर्शन किया। नव नाट्य आंदोलन अन्वेषण और आविष्कार के एक अन्य कालावधि का संपाती था। तब चित्रकला, साहित्य, संगीत ने सुदृढ़ प्रगति की। महानतम प्रगति सिनेमा में हुई। 'रक्तकरबी' के मात्र एक वर्ष बाद 'पथेर पांचाली' चलचित्र आया।

सचमुच ऐसा होना स्वाभाविक ही है। रंगमंच लोगों की गुणवत्ता तथा सामूहिक जरूरत से अलग होने योग्य नहीं है; वह उन्हें प्रतिबिंबित करता है और उन पर निर्भर रहता है। क्या यह संदेह कि बंगला रंगमंच अनुर्वर भूमि पर प्रयोग कर रहा है उचित है या नहीं, यह तो केवल समय बता सकता है। किंतु हमें यह देखकर संतोष होता है कि अपने एक सौ पचास वर्षों के इतिहास में बंगला रंगमंच ने बारंबार फिर से जी उठने और फिर से प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने की शक्ति का प्रमाण दिया है।

नामानुक्रमणिका

[नाट्यकारों, अभिनेताओं, लेखकों और बांग्ला रंगमंच से संबंधित व्यक्तियों की सूची]

मुद्रक : शान प्रिंटर्स, शाहदरा दिल्ली-110032